यूरोप का इतिहास - ३

इतिहास का एक विद्यार्थी

प्रकाशक

सस्ता साहित्य प्रकाशक मण्डल

अजमेर

प्रकाशक
जीतमल लूणिया, मन्त्री
सस्ता-साहित्य-प्रकाशक मण्डल, अजमेर

यूरोप के इतिहास के सम्बन्ध में

आवश्यक सूचना

यूरोप के इतिहास का प्रथम भाग जिसमें आरम्भ से मध्यकाल तक का इतिहास है छप गया है। पृष्ठ संख्या ३६२ और मूल्य केवल ।।।=) है। **यह पहला भाग प्रकीर्ण माला के प्रथम वर्ष में निकला था।** इसलिये दूसरे वर्ष के ग्राहकों को उसका मूल्य भेज कर मंगा लेना चाहिये। **इस इतिहास का दूसरा भाग भी छप गया है।** पृष्ठ संख्या २२४ मूल्य ।।-) तीसरा भाग आपके हाथ ही में है। इस तरह तीनों भागों की पृष्ठ संख्या ८३० और मूल्य केवल २) है।

मुद्रक—
गणपति कृष्ण गुर्जर,
श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी

विषय-सूची

विषय

यूरोपीय राष्ट्रों का इतिहास

तृतीय खण्ड

(फ्रांस की राज्यक्रांति के अन्त से वर्तमान समय तक)

पहला अध्याय

वर्तमान युग का आरम्भ

इतिहास को भिन्न २ खण्डों में विभाजित करने का कारण हम आरम्भ में ही लिख चुके हैं। समय में परिवर्तन बहुत धीमी गति से होता है। अतः कोई भी एक काल दूसरे काल से किसी एक वर्ष अथवा किसी एक घटना को लेकर अलग नहीं किया जा सकता। वर्तमान सदा ही भूत का परिणाम है और वर्तमान ही में भविष्य के बीज विद्यमान हैं। अतः भूत, वर्तमान और भविष्य सुदृढ़ सम्बद्ध हैं। वे स्वाभाविक ढङ्ग से भिन्न नहीं किये जा सकते, परन्तु अपने सुभीते के लिये हम कृत्रिम ढंग से उनके खंड कर लेते हैं। इसी क्रम से नेपोलियन के पतन के पश्चात् नये युग का आरम्भ समझा जाता है।

हम देख चुके हैं कि नेपोलियन ने यूरोप का नक्शा ही बदल दिया था। उसने राजाओं को यथेच्छा गद्दी पर बिठाया तथा उतारा। उसने सभी देशों की सीमाओं में परिवर्तन कर दिया था और इस प्रकार यूरोप की राजनैतिक दशा बिलकुल

बदल दी थी। इस बदली हुई स्थिति को फिर पूर्व अवस्था में लाने के लिये यूरोप के प्रधान राष्ट्रों की एक महासभा आस्ट्रिया की राजधानी वियाना नगर में बैठी। परंतु इसके सभासदों का लक्ष्य केवल राजाओं को प्रसन्न करना ही था। जनता की राष्ट्रीयता पर उन्होंने कुछ भी ध्यान न दिया। परंतु फ्रांस की राज्यक्रांति ने सर्वत्र राष्ट्रीयता तथा स्वतन्त्रता के भावों का प्रसार कर दिया था। अतः उन पराधीन देशों ने, जिनकी राष्ट्रीयता की वियाना सभा द्वारा अवहेलना की गयी थी, परतन्त्रता की बेड़ी काटने के लिये प्रयत्न तथा युद्ध आरम्भ कर दिये। अगले पचास वर्षों का इतिहास ऐसे ही पराधीन देशों की स्वतंत्रता-प्राप्ति का इतिहास है। यदि हम इसे राष्ट्र-निर्माण-काल कहें तो विशेष अत्युक्ति न होगी। इस काल में कई स्वतंत्र राष्ट्रों का जन्म हुआ। सब से पहिले यूनान तथा बेलजियम स्वतंत्र हुए। कुछ दिन बाद रोमानिया भी एक स्वतंत्र राष्ट्र हो गया और तुर्की का नाम यूरोप से मिट गया। यूरोप के बाहर कनाडा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड भी इसी काल में स्वतंत्र हुए। स्वतंत्रता तथा राष्ट्रीयता के भावों को वियाना कांग्रेस ने दबाना चाहा था, परन्तु वह इसमें असफल हुई।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति तथा नेपोलियन के पतन से यूरोप में युगान्तर उपस्थित हो गया था। पुरानी सभी बातें बदल गयी थीं। अब नई २ सूरतों में नये २ आन्दोलन दिखाई देने लगे थे। यूरोप में कई नये आविष्कार हो चुके थे तथा पुराने आविष्कारों में अनेक सुधार हो रहे थे। मशीनों के प्रचार का यह आरम्भिक काल था और बड़े २ राजनीतिज्ञों का ध्यान शीघ्रता से इस ओर

लगता जाता था। मनुष्यों के हृदय स्वतंत्रता की नई लहर में उछल रहे थे। वे पूर्ण स्वतंत्र जीवन व्यतीत करना चाहते थे। जीवन का ढंग भी बिलकुल बदल गया था। कुछ दिनों के लिये शान्ति भी स्थापित होगई जिस से ज्ञात होता था कि भविष्य बहुत उज्ज्वल तथा शान्त होगा। पुराना समय चला गया।

पवित्र मैत्री (होली अलायन्स)

इसी समय रूस के ज़ार अलक्ज़न्डर के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि परमात्मा ने मुझे यूरोप में शान्ति स्थापित करने के लिये भेजा है। अतः उसने पेरिस नगर की कान्फ्रेन्स के बाद एक योजना तयार की तथा प्रशा और आस्ट्रिया ने भी उसका साथ दिया। यह नेपोलियन द्वारा जगाये हुए प्रजातंत्र के विचारों के विरुद्ध—जिसे वे अधर्म समझते थे—एक धार्मिक समझौता था। तीनों देशाधिपतियों ने मिलकर यह घोषणा की, कि अब वे अपने २ देशों में तथा बाहरी देशों से भी ईसाई धर्म के सिद्धान्तों-न्याय, उदारता तथा शान्ति—के अनुसार व्यवहार करेंगे। इस घोषणा से यूरोप में एक नये पवित्र युग का आरम्भ होता दिखाई दिया, किन्तु शीघ्र ये ही लोग अपने उच्च उद्देशों से हट गये। इन्होंने शासन-कार्य में प्रजा के भाग लेने के विचार को क्रान्ति-कारी तथा शान्ति भंग करने वाला समझा। अतः उनका घोर विरोध किया और उन्हें दबाने की पूर्ण चेष्टा की।

इस मैत्री का गूढ़ उद्देश्य ही वियाना कांग्रेस के निर्णयों को स्थायी बनाना था। मैत्री के विधाता जानते थे कि वे समय की लहर के विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं। वियाना कांग्रेस में जनता के

विचारों तथा भावों के विरुद्ध निर्णय किये गये थे। अतः शासकों को विद्रोह का भय था। इस भाँति यह संघ प्रजा के अधिकारों के विरुद्ध राजाओं का एक गुट था। आस्ट्रिया का शक्तिमान् तथा प्रभावशाली महामंत्री मेटरनिक इस संघ का प्रधान संचालक बना। मेटरनिक इस समय यूरोप का सब से प्रधान राजनीतिज्ञ था। वह प्रजातंत्र और राष्ट्रीयता के विचारों का कट्टर विरोधी तथा पुराने ढंग का पक्षपाती था।

इस पवित्र मैत्री के स्थापित होने के कुछ ही वर्ष वाद राष्ट्रों की स्वतंत्रता-प्राप्ति का संग्राम आरम्भ हो गया। पवित्र मैत्री का असली रंग तथा उद्देश्य लोगों पर प्रकट हो गया, क्योंकि उसने स्वतंत्रता के आन्दोलनों को दवाने की लगातार चेष्टा की और आरम्भ में उसे इस कार्य में कुछ सफलता मिली भी।

सन् १८२० में स्पेन में क्रान्ति आरम्भ हुई। १८१२ में स्पेन के लोगों ने अपने राजा से (जिसे नेपोलियन ने उतारना चाहा था और जो स्पेन की प्रजा के कारण ही फिर सिंहासन पर वैठा) एक स्वतंत्रता-पत्र प्राप्त कर लिया था; परंतु वियाना कांग्रेस के वाद वहाँ के वोर्वन वंश के राजा ने फिर पुराना शासन आरंभ किया। अतः वहाँ की जनता ने १८१२ के स्वतंत्रता-पत्र के अनुसार अपने अधिकार पाने के लिये विद्रोह किया। नेपिल्स, पीडमोण्ट (जहाँ के लोगों का उद्देश्य आस्ट्रियनों को इटली से वाहर निकालना था) तथा अन्य कई स्थानों पर भी कुछ कालतक क्रान्तिकारियों की विजय रही। इस समाचार से मैत्री के विधाताओं में वड़ी घवराहट फैली। मेटरनिक ने १८२० और १८२१ में ट्रापा और लेवाक स्थानों पर दो कांग्रेसें आमंत्रित की

जिसमें आस्ट्रिया, रूस तथा प्रशा के राजा इस आन्दोलन को शस्त्रों से दवाने के लिये तैयार किए गए। इंगलैण्ड ने इसका विरोध किया; परंतु उसपर कुछ ध्यान न दिया गया। आस्ट्रिया की सेनाओं ने नेपिल्स तथा पीडमोंट का विद्रोह क्रूरता से दवा दिया और राजा फर्डिनेण्ड को वहाँ फिर गद्दी पर बैठाया। इस भाँति इटली की स्वतंत्रता का स्वप्न कुछ काल के लिये हवा हो गया।

इसी प्रकार स्पेन का विद्रोह भी दवा दिया गया और राजा को फिर गद्दी पर विठाया गया; परंतु स्पेन के उपनिवेशों ने यह प्रवन्ध स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भी अपने यहाँ स्वतंत्रता की घोषणा कर दी थी और अव वे उसे जारी रखना चाहते थे। अतः अमेरिका की आठ रियासतों ने स्पेन से संवंध तोड़ कर अपने यहाँ प्रजातंत्र स्थापित कर लिये। इनमें पीरू, चिली और माक्सिको प्रधान हैं। इस भाँति पवित्र मित्रदल ने अपने पवित्र उद्देश्य को छोड़कर प्रजा की स्वतंत्रता-प्राप्ति की इच्छा को दमन किया और यहाँ तक उसे यूरोप में सफलता मिली।

यूनान की स्वतंत्रता—स्पेन के झगड़े का अन्त होने के पहले ही यूनान का झगड़ा आरंभ हो गया। सन् १८२१ में यूनान ने तुर्की के विरुद्ध विद्रोह किया। तुर्की साम्राज्य, जिसने अव तक यूरोप में भय उत्पन्न कर रखा था, उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही निर्वल होने लगा था। इस निर्वलता के दो कारण थे। एक तो पाशा लोग अथवा प्रान्तीय शासक सुलतान से स्वतंत्र होकर वलवान् हो गये थे और सुलतान का अधिकार नाममात्र को रह गया था। अली तथा महम्मद अली ने अलवानिया और मिश्र में स्वतंत्र राज्य स्थापित कर लिये थे; परंतु तुर्की

की अवनति के प्रधान कारण जातीय तथा धार्मिक थे। तलवार द्वारा जीता हुआ देश तलवार के बल से ही व्यवस्थित रह सकता था। विजेता तथा विजितों में आचार व्यवहार का अथवा धार्मिक ऐक्य न था। जाति और धर्म की भिन्नता के कारण द्वेष तथा कलह की चिनगारियाँ वहाँ सदा सुलगती रहीं।

तुर्कों का राज्य बहुत बुरा न था; परंतु फिर भी यूरोप के लोग उसके पूर्णतया विरोधी थे। इसका कारण यह था कि तुर्क लोग कहते थे कि अल्लाह का यह हुक्म है कि किसी प्रकार का सुधार देश में न किया जाना चाहिये। इसके अतिरिक्त समय समय पर उनमें धार्मिक जोश उबल पड़ता था जिससे वे काफ़िरों-ईसाइयों के प्रति बड़ी क्रूरता का व्यवहार करते थे तथा सैकड़ों को क़त्ल कर डालते थे।

तुर्कों की निर्बलता देखकर यूरोप में प्रश्न हुआ कि यूरोपीय तुर्की का क्या किया जाना चाहिये। यह अन्तरराष्ट्रीय प्रश्न है, जो कई शताब्दियों से चला आ रहा है और आजतक भी इसका अन्तिम निबटारा नहीं हुआ है।

इस समय इस प्रश्न की स्थिति बदल गयी थी। अब तक तो यूरोपीय राज्य तुर्की की उन्नति से डरते थे; परंतु अब उन्हें उसकी अवनति का डर था। यदि तुर्की यूरोप से मिट गया, तो और देशों पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा। यूरोपीय राजनीतिज्ञों की दृष्टि इस समय रूस पर थी, क्योंकि तुर्कों की निर्बलता से लाभ उठाने का सबसे अधिक अवसर रूस को था और रूस अपनी शक्ति बढ़ाने में भी लगा था। आस्ट्रिया इस भाँति रूस की उन्नति देख कर उसका शत्रु हो गया, क्योंकि उसे भय था कि

रूस वालकन प्रायद्वीप तक विस्तार बढ़ा कर एक साम्राज्य स्थापित करेगा क्योंकि वालकन के निवासी भी प्रायः रूस की स्लाव जाति के ही हैं। इंगलैण्ड भी चाहता था कि रूस की भारत और भूमध्य सागर की ओर वृद्धि रोकने के लिये तुर्की का प्रबल रहना आवश्यक है। (इसीलिये—तुर्की के देश को यूरोपीय देशों में बाँटे जाने से रोकने के लिये—उसने आगे चलकर १८५४ में क्रीमियन युद्ध में भाग लिया) इस भाँति यह 'पूर्वी प्रश्न' (ईस्टर्न क्वेश्चन) उस समय एक विकट प्रश्न बन गया।

तुर्की की क्रूरता से तंग आये हुए यूनानी लोगों ने स्वतन्त्रता-प्राप्ति का यह अच्छा अवसर समझा। लगभग चार शताब्दियों से यूनान तुर्कों के अधीन चला आ रहा था। अब इस विदेशी जुये को हटाने के लिये वहाँ राष्ट्रीय विद्रोह आरम्भ हो गया था। सबसे पहले यूनान के एक प्रांत मोरिया में यह आन्दोलन सन् १७७४ में ही आरम्भ हो चुका था। प्राचीन साहित्य तथा गौरव का स्मरण कर उनमें स्वतन्त्रता का भाव और भी प्रबल हो गया। देशभक्ति तथा देश-गौरव के गीत गाये जाने लगे और इस भाँति उत्तरी यूनान में १८२१ में विद्रोह आरम्भ हो गया। इस समय तुर्की के सुलतान तथा अल्बानिया के शासक अली में झगड़ा चल रहा था। अतः उत्तरी प्रांतों—मोल्डेविया और वेलेशिया—ने यही अवसर विद्रोह के लिये उचित समझा। उन्हें रूस से सहायता मिलने की आशा थी; परन्तु ज़ार अलेक्जण्डर मेटरनिक के प्रभाव में था और उसी के कहने से ज़ार ने विद्रोहियों की सहायता न की। बड़ी क्रूरता से युद्ध हुआ, क्योंकि दोनों दलों में एक दूसरे के प्रति बिलकुल दया न थी।

मेटरनिक के प्रभाव से अन्य राजा भी उदासीन रहे; परन्तु मेटरनिक प्रजा की यूनानियों के प्रति सहानुभूति के विचारों को न रोक सका। कई देशों में बहुत से स्वयंसेवक दल उस ऐतिहासिक भूमि की स्वतन्त्रता के लिये तैयार हो गये। अब यह विद्रोह देश भर में फैल चुका था और राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये युद्ध का रूप धारण कर चुका था। पाँच वर्ष तक युद्ध होता रहा। पहिले यूनानियों की विजय रही; परन्तु आपस में कलह हो जाने के कारण वे फिर हारने लगे। इसी बीच में सुलतान ने अपनी सहायता के लिये मिश्र के पाशा महम्मदअली को बुलाया। उसने अपने पुत्र इब्राहिम के साथ एक सेना भेज दी, जिसने मोरिया आदि कई स्थान विद्रोहियों से छुड़ा लिये और अन्त में १८२६ में एथेन्स नगर भी ले लिया। यूनानियों की पूर्ण पराजय हो गई।

यूरोप के अन्य देशों ने अब तक यूनान की थोड़ी सहायता की थी। आस्ट्रिया के लोग इस युद्ध को सुलतान के प्रति अनुचित् विद्रोह समझते थे। रूस का ज़ार अलक्जेंडर भी उदासीन था। वह कहता था कि मेरा साम्राज्य मेरे लिये बहुत काफ़ी है, मैं रक्त का प्यासा नहीं हूँ। इसी भाँति इङ्गलैण्ड भी उदासीन था। इङ्गलैण्ड और आस्ट्रिया को तुर्की के नाश होने की आशंका से भय था; परन्तु दूसरी ओर उन्हें तुर्की के बलवान् होने का और भी अधिक भय था।

इस समय सन् १८२४ में इङ्गलैण्ड में कैनिंग विदेश-सचिव नियत हुआ। दूसरे वर्ष जार अलक्जेंडर की मृत्यु हो गयी और निकोलस गद्दी पर बैठा। इन दोनों घटनाओं से इङ्गलैण्ड तथा रूस की नीति बदल गयी। अब उन्होंने उदासीन रहना उचित न

समझा। १८२७ में लन्दन की संधि के अनुसार यूनान को तुर्की की रक्षा के अधीन, स्वतंत्र देश मान लिया गया। परन्तु तुर्की ने इस सन्धि को अस्वीकार कर दिया और प्रशा और आस्ट्रिया ने भी यूनान की स्वतंत्रता को न माना। इस पर फ्रांस और इंगलैण्ड की एक सम्मिलित सेना ने अक्तूबर १८२७ में तुर्की की जलसेना को नेवेरिनो स्थान पर हरा दिया। अब सुलतान ने ईसाइयों के विरुद्ध पवित्र धार्मिक युद्ध की घोषणा कर दी और हाल में रूस के साथ की हुई एक सन्धि को भी भंग कर दिया। इस पर रूस भी मैदान में आ गया। इंगलैंड में अब विलिंगटन का ड्यूक प्रधान मंत्री था। उसने सोचा कि यदि इस समय इंगलैण्ड चुप रहेगा तो युद्ध के निर्णय में उसे कुछ अधिकार न रहेगा और रूस के द्वारा स्वतंत्रता प्राप्त करने के कारण यूनान रूस के अधीन हो जायगा। अतः उसने फिर फ्रांस की सहायता से मोरिया में एक सेना भेजी। इसी समय रूसी सेना ने तुर्की सेना को हरा कर सन् १८२९ में एड्रियानोपल स्थान पर संधि लिखा ली, जिसके अनुसार तुर्की ने सर्विया, मोल्डेविया, वेलेशिया आदि प्रान्तों में ईसाई शासक नियत करना स्वीकार कर लिया, जिससे उसका इन प्रान्तों पर नाम-मात्र का अधिकार रह गया। इंगलैंड फ्रांस और रूस की संरक्षता में यूनान को पूर्ण स्वतंत्रता दी गयी, तथा उसका सिंहासन सन् १८३३ में बवेरिया के राजकुमार ओटो को दिया गया। ओटो ने तीस वर्ष राज्य किया; परंतु वह अप्रिय तथा पुत्रहीन था। अतः उसका उत्तराधिकारी डेनमार्क के राजा क्रिश्चियन नवें का द्वितीय पुत्र जार्ज प्रथम—जो इङ्गलैण्ड की रानी अलक्जेंड्रा का भाई था—बनाया गया। सन् १८५७

में तुर्क-यूनान युद्ध हुआ, जिसमें यूनान हार गया। इसी प्रकार हाल में भी यूनान तुर्की से हार गया; परंतु अन्य शक्तियों के बीच में पड़ जाने के कारण नष्ट होने से बच गया। यह झगड़ा अभी तक भी पूर्ण रूप से शांत नहीं हुआ है।

इस भाँति यूनान ने स्वतंत्र होकर दूसरे देशों के लिये उदाहरण उपस्थित किया, जिससे यूरोप की राजनीति पर बहुत प्रभाव पड़ा। इस सफल विद्रोह से मेटरनिक तथा पवित्र मैत्री के प्रभाव को बड़ा धक्का पहुँचा। वियाना कांग्रेस के निर्णय के विरुद्ध स्वतंत्रता की यह पहली विजय थी।

दूसरा अध्याय

१८३० की क्रांति

उन्नीसवीं शताब्दी में राजनैतिक विचारों में फ्रांस यूरोप का नेता रहा है। समस्त घटनाएँ पहले फ्रांस में आरंभ हुईं; फिर उनका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा।

नेपोलियन के उत्तराधिकारियों का कार्य यह रहा कि उनकी शासन-पद्धति ऐसी हो, जिसे फ्रांस के लोग स्वीकार करें तथा नीति ऐसी हो जिसे यूरोप के अन्य देश भी मानें। फ्रांस की जनता को वियाना कांग्रेस का निर्णय तनिक भी अच्छा न लगा; क्योंकि उनके देश की सीमा कम कर दी गयी तथा उनकी राष्ट्रीयता पर भी आघात किया गया। अतः वे सदा उसे तोड़ने के लिये उत्सुक रहे। दूसरी ओर अन्य शक्तियाँ इस निर्णय को स्थिर रखने के लिये ज़ोर लगा रही थीं, क्योंकि निर्णय के विरुद्ध

जरा भी गड़बड़ होने से समस्त यूरोप में अशांति फैलने का डर था।

बोर्बन वंश के राजा लुई १८ वें के फ्रांस की गद्दी पर वापस आते ही फ्रांस दो राजनैतिक दलों में बँट गया। एक दल क्रांति के विरोधियों तथा उस समय के बाहर भागे हुए सरदारों आदि का था। वे पुरानी स्थिति फिर लाना चाहते थे। पहले उन्होंने कैथोलिक गिरजे की पुनःस्थापना की और क्रांति के समय जो पृथ्वी सरकार ने ज़ब्त कर ली थी उसे गिरजों को फिर वापस दिलाया और उन्हें विद्या का केन्द्र बनाया और एक बिशप को विश्वविद्यालय का प्रधान बनाया। ये लोग अपनी पहली जायदाद तथा पहले के राजनैतिक अधिकार वापस लेना चाहते थे।

दूसरा दल क्रान्ति का समर्थक था और उसे जारी रखना चाहता था। ये लोग उसी समय तक राजभक्त रहने को तैयार थे, जब तक कि राजा उन शर्तों पर दृढ़ रहे जिनके अनुसार वह गद्दी पर बिठाया गया था। वे क्रान्ति के द्वारा मिले हुए अधिकारों को खोना नहीं चाहते थे। वे धार्मिक सहिष्णुता तथा न्याय में समानता चाहते थे। लुई १८ वें ने गद्दी पर बैठते समय जो राजपत्र (चार्टर) दिया था उसमें जनता को शासन-कार्य में अधिकार दिये गये थे। उसके अनुसार एक व्यवस्थापक सभा बनी जिसके दो भाग थे। एक में सरदार थे जिनको या तो राजा ने नियत किया था या जो परम्परा से सभासद होते आये थे। दूसरे भाग के लोग ऐसे लोगों द्वारा चुने जाते थे जो कर स्वरूप १३ पौण्ड वार्षिक देते थे। इस भाँति इस राजपत्र के द्वारा राजा और प्रजा में सम्बन्ध स्थापित किया गया।

इन दोनों दलोंमें मेल होने की कभी सम्भावना न थी। उनके उद्देशों तथा नियमों में समता स्थापित करना असम्भव था। लुई १८ वाँ देश की इच्छा तथा अपनी स्थिति से अनभिज्ञ था। अतः उसने बहुत होशियारी से काम किया। वह जानता था कि मुझे फिर राज्य मिलने का मतलब यह नहीं है कि फिर वही पुरानी नीति चलायी जाय, फिर पुराने विचार काम में लाये जायँ। इसीलिये उसने जनता को राज-पत्र देना स्वीकृत किया, जिस से प्रजा को शासन-कार्य में भाग मिला। सब को समानता, धार्मिक तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता मिली। प्रेस को भी स्वतंत्रता दी गयी। अब तक ऐसा अधिकार-पत्र फ्रांस को कभी न मिला था।

क्रम क्रम से दोनों दल शक्तिमान् होते रहे और इनमें झगड़े भी चलते रहे, जिनके फलस्वरूप १८३० की क्रान्ति हुई। १८२२ में पहला अर्थात् क्रान्ति का विरोधी दल शक्तिमान् था। अतः प्रेस की स्वतंत्रता हरण कर ली गयी। कोई भी पुस्तक जो प्रचलित धर्म अथवा सरकार के विरुद्ध थी, ज़ब्त की जा सकती थी। फिर जागीरदारों और सरदारों को प्रसन्न करने के लिये फ्रांस में आनेवाली वस्तुओं पर एक कर भी लगाया गया।

सन् १८२४ में लुई के मरने पर उसका भाई चार्ल्स दसवाँ राजा हुआ। यह आर्टोइ का काउन्ट (सरदार) था और क्रान्ति के समय बाहर भागे हुए उन सरदारों का नेता था जिन्होंने अपने देश को विद्रोहियों से लड़ने के लिये आस्ट्रिया से सहायता माँगी थी। अतः वह फ्रांस में अप्रिय था। चार्ल्स स्वतंत्रता का कट्टर विरोधी था। इसके समय में उत्तर अफ्रीका में अल्जीर्स नामक प्रदेश फ्रान्स को मिला, जो अब खूब हरा भरा है।

चार्ल्स क्रान्ति को विफल करके पुराना क्रम फिर स्थापित करना चाहता था। इस भाँति उसने क्रान्ति के सिखाये हुए पाठ से कुछ लाभ न उठाया। उसने पादरियों को शिक्षा का भार सौंप दिया; परन्तु ये लोग फिर फ्रांस में अप्रिय हो गये थे। फिर उसने बाहर से लौटे हुए सरदारों की सहायता के लिये भारी चन्दा एकत्रित करना आरम्भ किया। यह कार्य भी जनता को अप्रिय हुआ। फिर उसने प्रेस की स्वतंत्रता छीन ली और चुनाव के अधिकारियों की संख्या में भी कमी कर दी। अतः उसके समय में राजा और पार्लिमेन्ट में सदा झगड़ा होता रहा; क्योंकि पार्लिमेन्ट में अब मध्यश्रेणी के लोग अधिक थे, जिनका प्रभाव भी था। सन् १८२९ में चार्ल्स ने बाहर से लौटे हुए सरदारों में से एक पोलीगनेक को मंत्री बनाया। यह जनता को खुला चैलैन्ज (चुनौती देना) था। अतः चारों ओर क्रोधाग्नि फैल गयी।

पोलिगनेक ने पादरियों को राज-कार्य में भाग देना आरम्भ किया तथा सरदारों को शक्तिमान् बनाया। लोगों का ध्यान बटाने के लिये उसने विदेशों को जीतने के लिये एक सेना भेजी तथा अल्जीर्स को जीतकर उत्तरी अफ्रीका में फ्रांसीसी साम्राज्य की नींव डाली; परन्तु जनता का असन्तोष दूर न हुआ। उदार दल के प्रतिनिधियों ने एक बार राजा से ऐसी प्रार्थना भी की कि वह उन मंत्रियों को अलग कर दे, जिनके पक्ष में पार्लिमेन्ट में बहुमत नहीं है। राजा ने इसको अपना व्यक्तिगत अपमान समझा और १८३० में पार्लिमेन्ट को ही भंग कर दिया। परन्तु दूसरी बार के चुनाव में सरकार के पक्ष के पचास प्रति-

निधि कम हो गये। इससे चिढ़कर राजा ने २५ वीं जुलाई को तीन नयी आज्ञाएँ निकालीं। पहली आज्ञा से उसने इस नये चुनाव को ग़ैर-क़ानूनी ठहराया तथा फिर नये प्रतिनिधि चुनने की सूचना दी। दूसरी आज्ञा से प्रतिनिधि चुननेवालों की संख्या में कमी कर दी तथा तीसरी से प्रेस की स्वतंत्रता हरण कर ली और कई पत्र ज़ब्त कर लिये। दूसरे ही दिन पत्र सम्पादकों के भड़काने से पेरिस में चारों ओर क्रोध तथा विद्रोह आरम्भ हो गया। राज-कर्मचारी इसे न दबा सके और विद्रोहियों ने पेरिस में लाफायर के नेतृत्व में अपनी अस्थायी सरकार की घोषणा कर दी। राजा ने अपनी आज्ञाएँ वापस लेनी चाहीं; परन्तु अब समय निकल गया था। उसने अपने हाथ से राज्य हटता हुआ देखकर अपने पौत्र के पक्ष में राज्य त्याग दिया और स्वयं बाहर भाग गया।

फ्रान्स का उद्देश्य इस समय प्रजातंत्र स्थापित करना नहीं था। सौभाग्य से राज्य के लिये एक अच्छा उत्तराधिकारी-बोर्बन वंश का आरलीन्स का ड्यूक लुई फिलिप—मौजूद था। अगस्त १८३० में वह राजा बनाया गया।

१८३० का विप्लव भी यूरोप के इतिहास में बहुत महत्वपूर्ण है। इस से फ्रान्स में बोर्बन वंश की बड़ी शाखा का अन्त हो गया और दूसरी शाखा का राज्य आरम्भ हुआ। अब प्रजा के अधिकार और बढ़े। राजा से ऐसी आज्ञाएँ निकालने का अधिकार छीन लिया गया जैसी चार्ल्स दसवें ने निकाली थीं। प्रेस को स्वतंत्रता दी गयी। देश से विदेशी सेनाएँ हटा दी गयीं। व्यापार और उद्योग की वृद्धि हुई और रेल, तार, जॉइन्ट स्टाक कम्पनियाँ,

आदि खोलकर व्यापार की वृद्धि की गयी; परन्तु सब से बड़ी शिकायत—मताधिकार की वृद्धि—की ओर ध्यान न दिया गया। लगभग तीन करोड़ आबादी में से केवल एक लाख को प्रतिनिधि चुनने का अधिकार था। यह न बढ़ा।

राजा के 'ईश्वर-प्रदत्त अधिकार' के स्थान पर इस क्रान्ति के कारण प्रजा के ईश्वर-प्रदत्त अधिकार माने जाने लगे तथा शासनकार्य में जनता के अधिक लोग लिये जाने लगे। इस क्रान्ति से भविष्य के लिये समानता तथा स्वतंत्रता की दृढ़ बुनियाद पड़ गयी।

इस क्रान्ति का यूरोप पर भी बहुत प्रभाव पड़ा। स्थान २ पर उदार दल के लोगों ने वियाना कांग्रेस के निर्णय को तोड़ना तथा उसके द्वारा लगाये हुए बन्धनों को दूर करना चाहा। बेलजियम की स्वतंत्रता, पोलैण्ड में विद्रोह, अनेक जर्मन रियासतों में वैध शासन की स्थापना तथा इटली और स्वीजरलैण्ड के विद्रोह इसी क्रान्ति के परिणाम हैं।

तीसरा अध्याय

१८३० की क्रान्ति का यूरोप पर प्रभाव

जुलाई की क्रान्ति (१८३०) की पहली गूँज बेलजियम में उठी। भाषा तथा धर्म में भिन्नता रहते हुए भी वियाना कांग्रेस ने इसे हालैण्ड के साथ जोड़ दिया था जिसका उद्देश्य यह था कि भविष्य में फ्रांस की महत्त्वाकांक्षा रोकने के लिये हालैण्ड एक शक्तिमान देश बन सके। परन्तु बेलजियम के लोग इस अप्राकृ-

तिक ऐक्य से सदा ही कुढ़ते रहे। वे जातीयता, आचार विचार, धर्म, भाषा आदि सभी में हालैण्ड वालों से भिन्न थे। डच लोग (हालैण्ड वासी) प्रायः व्यापारी थे परन्तु वेलजियम वाले अधिकांश कृषक थे। डच प्रोटेस्टैण्ट थे तो वे कैथोलिक थे। इसी भाँति अन्य भेद भी थे। इसके अतिरिक्त ये देश दो शताब्दियों से भिन्न थे। स्पेन के राजा फिलिप द्वितीय के समय में हालैण्ड वाले स्वतंत्र हो गये थे। वेलजियम वाले स्पेन के अधीन रहे और फ्रांस की वड़ी राज्यक्रान्ति के समय उनका देश फ्रांस में मिला लिया गया। वियाना कांग्रेस ने इङ्गलैण्ड के प्रतिनिधि के प्रस्ताव पर उसे हालैण्ड से जोड़ दिया। इस मेल से कई लाभ भी हुए। वेलजियमवालों के लिये शेल्ट नदी व्यापार के लिये खुल गयी और हालैण्ड के उपनिवेशों में व्यापार करने का भी उन्हें अधिकार मिला। लोहा, ऊन और सूत के व्यापार में भी उन्नति हुई जिससे लीज, घेंट आदि व्यापार के केन्द्र हो गये। वेलजियम का व्यापार प्रतिवर्ष वढ़ने लगा क्योंकि डच लोगों ने संसार के एक वड़े भाग पर अपना अधिकार जमा लिया था।

परन्तु कुछ ऐसे भी कारण थे जिनमें वेलजियम के लोगों में असन्तोष वना रहा। वेलजियम की जन-संख्या हालैण्ड से दूनी होने पर भी दोनों देशों के प्रतिनिधि पार्लमेण्ट में वरावर संख्या में ही भेजे जाते थे। इसके अतिरिक्त सव विभागों के उच्च पदाधिकारी, राजदूत, सैनिक, अफसर आदि प्रायः सव हालैण्डवाले ही नियत किये जाते थे। सरकारी नीति की निन्दा करने वालों पर भारी जुर्माना होता था तथा स्वतंत्र विचार करना भी मना था। ऐसे ही अनेक कारणों से दुखित एक राष्ट्रीय नेता के

उद्‌गार देश के चुने हुए प्रतिनिधियों की एक सभा में इस प्रकार निकले थे—'हमारे ऊपर एक विदेशी भाषा लादी गयी, अन्तःकरण की स्वतंत्रता की अवहेलना की गयी, प्रेस को चुप करके उसे अपनी ओर मिलाया गया, कर वैसे ही अधिक हैं, फिर जिस तरीके से वे वसूल किये जाते हैं उससे वे और भी भारी हो जाते हैं, डच लोग कानून बनाने में हमारे विरुद्ध मत देते हैं, सारे बड़े पद डच लोगों को ही दिये जाते हैं। संक्षेप में हम लोग एक विजित जाति अथवा गुलामों की भाँति व्यवहृत किये जाते हैं और जब हम अपने स्वत्व प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते हैं तो हमें बागी कह कर क्रूरता से दण्ड दिया जाता है। हमारे नगर जलाये गये, हमारी स्त्रियों तथा हमारे बालकों पर भी अमानुषिक अत्याचार किये गये। हालैण्ड के साथ मेल से हमें ये ही लाभ हुए हैं।'

इन कारणों में प्रधान हालैण्ड की आर्थित नीति थी। हालैण्ड ने युद्धों के कारण अपने ऊपर एक भारी ऋण लाद लिया था। अब उसने इसका आधा बेलजियम के ऊपर लादा और वहाँ आटे तथा मांस पर कर लगा दिया। इस प्रकार जीवन की आवश्यकताओं पर कर लगा देख कर लोगों को—विशेषतया गरीबों को—बड़ा क्रोध आया। समान सकंट के समय बेलजियम के दोनों राजनैतिक दल मिल गये। ये लोग दोनों देशों का ऐक्य भंग करना न चाहते थे क्योंकि ऐक्य से उन्हें भी लाभ था परंतु वे शासन-व्यवस्था में परिवर्तन करना चाहते थे। इसी आशय के अनेक प्रार्थनापत्र राजा के पास भेजे गये। राजा विलियम अनेक गुण होते हुए भी हठी था। अतः

उसने इस आन्दोलन को थोड़े से असंतुष्ट लोगों के द्वारा चलाया हुआ समझ कर इस पर ध्यान न दिया। इसी समय जुलाई सन् १८३० में फ्रांस में क्रांति आरम्भ हुई। १५ अगस्त की रात्रि को बेलजियम में स्वतंत्रता-प्राप्ति का एक नाटक दिखाया गया। उसी समय से लोग उछलने लगे और शीघ्र ही एकत्र जनसमूह ने उपद्रव आरम्भ कर दिया। ब्रूसेल्स नगर के द्वार पर एक शाही सेना को भी इन्होंने हरा दिया। इस विजय का बड़ा प्रभाव पड़ा। शीघ्र ही सारे देश में विद्रोह फैल गया और विद्रोहियों ने स्वतंत्रता घोषित कर अपनी स्थायी सरकार की योजना तैयार की।

अब यूरोप की शक्तियों ने भी इस झगड़े में दखल देना आरंभ किया। हालैंड के राजा विलियम ने उनसे कहा कि तुमने ही बेलजियम को हमारे अधीन किया था। अतः अब तुम हमारी सहायता करो। इसके अतिरिक्त हालैण्ड का व्यापार अन्तर्राष्ट्रीय था परन्तु फिर भी विलियम को सहायता न मिल सकी। यदि यही घटना दस वर्ष पूर्व हुई होती तो 'होली अलायंस' की शक्तियाँ झट विलियम को सहायता देकर विद्रोह को दबा देतीं। परन्तु इस समय यूरोप दो भागों में बँटा था। एक ओर इङ्गलैण्ड और फ्रांस, दूसरी ओर रूस, आस्ट्रिया और प्रशा थे। पौलैण्ड में इसी समय अशांति के कारण रूस और आस्ट्रिया का ध्यान उधर लगा था। अकेला प्रशा इङ्गलैंड और फ्रान्स से मुक़ाबला करने का साहस न कर सका। अतः रणक्षेत्र पश्चिमी शक्तियों फ्रान्स और इङ्गलैंड के लिये खाली रह गया और इन दोनों देशों की सहानुभूति बेलजियम की ओर थी। लन्दन में शक्तियों की एक सभा हुई जिसमें बेलजियम की स्वतंत्रता स्वीकार की गयी,

परन्तु हालैंड का आधा ऋण उसके ऊपर लादा गया। बेलजियम की राष्ट्रीय सभा ने इसे अस्वीकार किया परंतु हारने पर उसे चुप होना पड़ा। जुलाई १८३१ में बेलजियम का राजमुकुट सेक्सकोवर्ग के राजकुमार लीयोपोल्ड को पहनाया गया और बेलजियम राज्य की घोषणा की गयी। सब राजाओं ने इसे स्वीकार कर लिया।

स्वतन्त्र बेलजियम ने अपनी अद्भुत उन्नति की है। उसके खनिज द्रव्यों, उद्योग-धन्दों और कलाओं की वृद्धि हुई। शिक्षा की वृद्धि के साथ साथ ज्ञान तथा सभ्यता में उन्नति हुई। बेल-जियम एक उदासीन अथवा तटस्थ राज्य बनाया गया और उसकी शान्ति को १९१४ ई० तक किसी भी राष्ट्र ने भंग न किया था।

पोलैण्ड—गत यूरोपीय महायुद्ध से पहले पोल लोगों की संख्या दो करोड़ थी जिनमें से पचास लाख आस्ट्रिया के, पैंतीस लाख जर्मनी के तथा शेष रूस के अधीन थे, क्योंकि १८ वीं शताब्दी के अन्त में इन्हीं तीन देशों ने पोलैण्ड को टुकड़े २ करके बाँट लिया था, जिसमें से रूस ने तीन चौथाई भाग ले लिया था। १८१३-१४ में रूस ने वारसा की डची (जागीर) को भी अपने अधीन कर लिया जिसे नेपोलियन ने प्रशा और आस्ट्रिया को दिये गये पोलैण्ड के भाग को उनसे छीनकर बनाया था। जार ने रूस में निरंकुश होते हुए भी पोलैण्ड में वैध शासन स्थापित किया। वहाँ व्यवस्थापिका सभा बनाई गई जिसके दो दल थे। जिनमें से पहले में राजा द्वारा नियुक्त किये हुए तथा दूसरे में प्रजा द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि बैठते थे। राज-काज तथा अदालतों की भाषा भी पोलिश रही तथा सब बड़े २ पद भी

उन्हें ही मिलते थे। इस भाँति ज़ार ने पोलैण्ड की राष्ट्रीयता का ध्यान रखा परन्तु उसकी यह नीति सफल नहीं हुई। इस असफलता का कारण एक इतिहासज्ञ की दृष्टि में पोल लोगों का चतुर तथा अनुभवी न होना है। परन्तु पोल लोग ज़ार की बदली हुई नीति को ही इसका कारण मानते हैं क्योंकि ज़ार, मेटरनिक के प्रभाव से धीरे २ पोल लोगों की स्वतंत्रता हरण करने लगा था। १८१९ में उसने समाचार-पत्रों तथा पुस्तकों पर बन्धन लगाया और दूसरे वर्ष डाइट (व्यवस्थापिका सभा) को पाँच वर्ष के लिये बन्द कर दिया क्योंकि उसने सरकारी नीति की निन्दा की थी। इस भाँति अपनी हाल ही में प्राप्त हुई स्वतंत्रता का हरण देखकर पोल लोग बड़े क्रुद्ध हुए क्योंकि उन्हें अपनी पुरानी स्वतंत्रता के दिन अब तक याद थे। ज़ार निकोलस के समय में दशा और भी बिगड़ गयी। वह पूर्ण निरंकुश राजा था। अतः उसके समय में गुप्त समितियाँ बनने लगीं और १८२८ में सेना में विद्रोह होते २ बच गया। दो वर्ष बाद फ्रान्स में क्रान्ति हुई जिसका पोलैण्ड पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। यह जानकर कि निकोलस पोलों की सेना को फ्रान्स के विरुद्ध भेजना चाहता है उन लोगों ने शीघ्र ही आन्दोलन आरम्भ कर दिया क्योंकि पोल सेना की अनुपस्थिति में उनका विद्रोह शीघ्र ही दबाया जा सकता था। २९ नवम्बर १८३० को राजधानी में एक विद्रोह आरम्भ हो गया। विद्रोही भली-भाँति संगठित न थे और सरलता से दबाये जा सकते थे परंतु पोलैण्ड का वायसराय घबड़ा कर शहर से भाग गया। वारसा सहज ही विद्रोहियों के हाथ में आगया और विद्रोह सारे देश

में फैल गया। विद्रोहियों ने अपनी सरकार की घोषणा कर दी, परंतु उनके नेता ने ज़ार से सन्धि की बातचीत में बहुत दिन लगा दिये जिससे ज़ार ने अपनी सेना को भली भाँति तैयार कर लिया। इधर दुर्भाग्य से नेताओं में मतभेद था। पुराने विचार के सरदार केवल शासन-पद्धति में सुधार चाहते थे परंतु मध्य-श्रेणी के लोग पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे। ज़ार ने सेना तैयार कर उन पर आक्रमण कर दिया जिसके आगे पोलैण्ड के सिपाही ठहर न सके और कुछ ही सप्ताहों में विद्रोह दब गया।

पोलैण्ड को बाहरी देशों से सहायता मिलने की आशा थी किन्तु भिन्न २ कारणों से किसी देश ने उसे सहायता न दी। इंगलैण्ड ने ज़ार के प्रति कुछ विरोध प्रकट किया परंतु ज़ार ने उस पर कान न दिया और पोलैण्ड को अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया। वहाँ की व्यवस्थापिका सभा तथा अन्य स्वतंत्र संस्थाएँ तोड़ दी गयीं। वहाँ की राष्ट्रीय सेना के स्थान में रूसी सेना नियत हुई। बड़े २ पद सब रूसियों को दिये जाने लगे और काम काज की भाषा भी रूसी हुई। विद्रोहियों को कड़ा दण्ड दिया गया। बहुत से मार डाले गये तथा बहुत से साइबेरिया भेज दिये गये, जहाँ वे अपने आप नष्ट हो गये।

इस भाँति सन् १८३० की क्रान्ति से यदि यूरोप में एक देश—बेलजियम—की वृद्धि हुई तो एक दूसरे देश—पोलैण्ड का नाम ही यूरोप से मिट गया। देशों की संख्या बराबर ही रही।

अलेक्जेंडर द्वितीय के रूस की गद्दी पर बैठने के समय से पोलैण्ड में एक नया युग आता ज्ञात हुआ। शासन की कठोरता कम हो गयी और निर्वासितों को बुला लिया गया। किन्तु उनके

आने से राष्ट्रीय आन्दोलन फिर आरंभ हो गया। पोल लोगों को कुछ रियायतें दी गयीं परंतु वे सन्तुष्ट न हुए। 'रक्त-दल' के लोगों ने (जो पूर्ण स्वतंत्रता के पक्षपाती थे) वायसराय तथा अन्य अधिकारियों के जीवन पर आक्रमण किया। इस पर अधिकारियों ने अनेक संदिग्ध सैनिकों को गिरफ़्तार करना आरंभ कर दिया। उनमें से बहुत से जंगलों में भाग गये और वहाँ अपने दल बनाने लगे। १८६३ में उन्होंने फिर विद्रोह आरंभ कर दिया और लूट खसोट कर वे लोग जंगलों में छिप जाने लगे किन्तु १८६४ में उनका विद्रोह फिर दबा दिया गया।

इसके बाद पोलैण्ड की उन्नति आरंभ हो गयी। वहाँ के किसानों की दशा सुधर गयी। उद्योग और व्यापार की बहुत वृद्धि हुई तथा फेक्टरियाँ खुलने से नये नगरों की संख्या भी बढ़ी।

पोल लोगों को अपनी राष्ट्रीयता का अब तक बड़ा ध्यान है। उनकी भाषा को दबाने तथा उन्हें रूसी बनाने के सब प्रयत्न निष्फल हुए। अभी हाल में महा युद्ध के पहले रूस ने पोलैण्ड को एक स्वतंत्र रियासत बनाने का वादा किया था और निम्न घोषणा की थी—

'पोल लोगो! अब समय आ गया है कि तुम्हारे पूर्वजों का पवित्र स्वप्न कार्यरूप में परिणत होगा। डेढ़ सौ वर्ष पहले पोलैण्ड का मांस नोचा गया था परन्तु उसकी आत्मा अब तक जीवित रही। पोलैण्ड राष्ट्र को विभागों में बाँटने वाली सीमाएं नष्ट हो जाना चाहियें और उसे रूसी सम्राट् की संरक्षता में एक राष्ट्र बनना चाहिये।'

यहीं पर हमें पोलैण्ड के शेष भागों का इतिहास भी संक्षिप्त रूप से जान लेना चाहिये।

पोलैण्ड का जो भाग प्रशा के आधीन था वहाँ पर प्रशा ने उसे अपने में मिलाने का पूर्ण प्रयत्न किया। जिस प्रकार हंगरी के मागयार लोगों ने पड़ोसी जातियों को अपने में मिलाने का प्रयत्न किया है उसी प्रकार जर्मनों ने भी पोलों, डेनमार्क वालों तथा अलसेस-लारेन के फ्रांसीसियों को जर्मन बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया। यह नीति बिस्मार्क के समय से आरंभ हुई। उसने १८७३ में आज्ञा निकाली कि धार्मिक कार्यों के अतिरिक्त स्कूलों, कचह-रियों आदि में जर्मन भाषा का ही प्रयोग किया जाय। उसने जागीरदार पोलों को बाहर भेजना और उपनिवेशों में बसे हुए जर्मनों को वापिस बुलाना आरंभ किया परन्तु इसमें उसे सफ-लता न मिली। १९०८ के एक कानून से सब सार्वजनिक सभाओं की भाषा भी जर्मन बना दी गयी है; परन्तु यदि सभा में साठ प्रतिशत मनुष्य ऐसे हों जो जर्मन भाषा से अनभिज्ञ हों तो वे दूसरी भाषा का प्रयोग कर सकते हैं। यह रियायत केवल बीस वर्ष के लिये दी गयी थी। फिर भी पोलिश भाषा का प्रचार गांवों में अधिकाधिक होता गया जिससे यह बात सिद्ध होती है कि किसी देश के भिन्न २ राष्ट्रीय तत्वों को जबरदस्ती मिलाने से उसकी शक्ति बढ़ती नहीं।

इससे विपरीत आस्ट्रिया के अधीन पोलैण्ड की स्थिति बहुत सन्तोषजनक थी। १८६७ में उन्हें सुधार दिये गये थे जिससे पोल भाषा ही उनकी अदालती भाषा हुई और उनकी पार्लमेण्ट को पूर्ण स्वतंत्रता दी गयी। गैलेशिया प्रान्त में ५३ प्रतिशत

पोलों की वस्ती है, तथा ४३ प्रतिशत रूथनियन लोगों की। आस्ट्रिया ने दोनों जातियों को वरावर रखने के लिये दोनों की भाषाओं को स्कूलों तथा कालेजों में पढ़ाया जाना स्वीकार कर लिया। रूथनियन लोग धीरे २ रूसियों से मिलते जाते हैं।

स्पेन और पुर्तगाल—अव हम फिर १८३० की क्रांति के प्रभावों की ओर लौटते हैं। इस समय स्पेन में फर्डिनेन्ड सप्तम की पुत्री आइज्ञावेला और उसके चाचा डोन कार्लस् में गद्दी के लिये झगड़ा चल रहा था। फर्डिनेण्ड ने स्वयं अपनी पुत्री को राज्य दिलाना चाहा था। पवित्र-संघ ने कार्लस् का पक्ष लिया परन्तु इङ्गलैंड और फ्रांस की सहायता से आइज्ञावेला गद्दी पर बैठ गयी और कार्लस वाहर निकाल दिया गया। इसी भाँति पुर्तगाल में पीड्रो प्रथम की पुत्री और उसके चचा में भी झगड़ा चल रहा था। वहाँ भी पुत्री ही गद्दी पर वैठी।

इङ्गलैण्ड—इंगलैंड के शासन तथा संगठन में यह विशेषता है कि वहाँ कभी विद्रोह तथा विप्लव नहीं हुए (केवल एक दो वार छोड़ कर)। वहाँ केवल सुधार ही हुए हैं। नेपोलियन के समय में वहाँ उदार दलवालों को दवाने की चेष्टा की गयी थी, परन्तु इसके वाद ये ही विचार फिर वढ़ने लगे क्योंकि उस समय वहाँ चुनाव की प्रथा दूषित थी। पहले से जिन गाँवों को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार चला आता था वे अव ऊजड़ होने पर भी अपने प्रतिनिधि भेजते थे। किसी किसी गाँव में तो केवल दो ही आदमी होते थे जो स्वयं ही प्रतिनिधि वन जाते थे। दूसरी ओर व्यापार के कारण वढ़े हुए मैन्चेस्टर आदि नगरों को प्रतिनिधि भेजने का अधिकार न था। धीरे २ सुधार के लिये असंतोष

वहुत वढ़ गया तथा अन्त में वेलिंगटन के टोरी दल का, जो सुधारों का विरोधी था—पतन हुआ तथा ग्रे के नेतृत्व में व्हिग मन्त्रिमण्डल पदारूढ़ हुआ। इसने १८३२ में सुधार-विल निकाला जिससे चुनाव का अधिकार वढ़ाया गया। ऊजड़ गाँवों का प्रतिनिधित्व छीन लिया गया तथा नये शहरों को अधिकार मिला।

क्रांति का महत्व—इस क्रांति का भी यूरोप में वहुत महत्व है। इसी के कारण वेलजियम को स्वतन्त्रता मिली, इङ्गलैण्ड में सुधार हुए, फ्रांस और जर्मनी की रियासतों में वैध शासन का आरम्भ हुआ तथा इस भाँति स्वतन्त्र विचारों की जीत होने से वियाना कांग्रेस का निर्णय विफल हुआ। इंगलैण्ड और फ्रांस ने वेलजियम का पक्ष लिया जिससे प्रगट है कि इन देशों ने स्वतन्त्र विचारों को पसन्द किया। मेटरनिक के नीति को धक्का लगा। इससे यूरोप में स्वतन्त्र विचारों को वहुत उत्तेजना मिली।

—*०*—

चौथा अध्याय

१८४८ की क्रांति

उन्नीसवीं शताब्दी के प्रथमार्ध भाग में यूरोप में राजनैतिक तथा सामाजिक विचारों में वड़े वेग से जागृति होती रही है तथा निरंकुश शासकों के सताये हुए लोगों में राष्ट्रीयता के भाव जागते रहे हैं जिससे उनकी स्वतन्त्रता प्राप्ति की इच्छा वढ़ती गयी। इन्हीं विचारों के कारण १८४८ की क्रांति हुई जिसका प्रभाव फ्रांस, इटली, आस्ट्रिया तथा जर्मनी पर पड़ा तथा अन्य कई

राजवंशों के भी सिंहासन हिल गये। इस बार भी विद्रोह का केन्द्र फ्रांस ही था अतः पहले हमें फ्रांस की दशा देखनी चाहिये।

आरलीन्स वंश ने फ्रांस में १८ वर्ष राज्य किया। इस समय में प्रतिनिधि प्रथा की उन्नति हुई। लुई फिलिप ने राज्य का आरम्भ अच्छा किया परन्तु धीरे २ वह अप्रिय होने लगा क्योंकि वह अपनी प्रजा की इच्छा के अनुसार अपनी नीति न स्थिर कर सका। राजा तथा प्रजा के विचारों में मत-भेद था तथा यह मत-भेद समय के साथ २ बढ़ता गया।

फ्रांसीसी लोग चाहते थे कि फ्रांस की सरकार विदेशियों द्वारा पीड़ित राष्ट्रों की सहायता करे। वे पोलैंड और इटली को सहायता देना चाहते थे परन्तु राजा ने यूरोप के झगड़ों में हस्तक्षेप करना—'शेर का मुँह खोलना'—उचित न समझा। इससे यूरोपीय देश तो उससे प्रसन्न रहे परन्तु उसकी प्रजा का उसके प्रति असन्तोष बढ़ता गया।

प्रजा में असन्तोष का एक कारण और था। इस समय फ्रान्स में मध्यमश्रेणी के लोगों का प्राधान्य था तथा उन्हीं के कारण फिलिप को गद्दी मिली थी। राजनैतिक अधिकार भी प्रायः इसी श्रेणी के लोगों के पास थे। किन्तु देश में प्रजातंत्र और साम्यवाद के विचारों की वृद्धि हो रही थी। श्रमजीवियों की गिरी हुई दशा ने प्रजातंत्रवादियों का ध्यान आकर्पित किया; क्योंकि मशीनों के आविष्कार से मज़दूरी की दर कम होती जा रही थी। इसी कारण १८४२ में एक राजनीतिज्ञ ने कहा था 'फ्रान्स में अब राजनैतिक आन्दोलनों का समय गया, भविष्य की क्रान्ति सामाजिक क्रान्ति होगी'। मताधिकार मध्यदल-

वालों तक ही परिमित होने के कारण श्रमजीवी लोग बहुत असन्तुष्ट थे और उन्होंने कई बार सरकार को चेतावनी भी दी। परन्तु राजमंत्री गिज़ट ने प्रजा को अधिकार देने में राजा की हार समझी। अतः उसने श्रमजीवियों की प्रार्थना पर ध्यान न दिया। सुधार चाहनेवालों का जोर बढ़ता गया। थियर्स नामक नेता ने सम्मुख आकर कहा कि राजा का प्रजा पर प्रभाव डालना १८१५ की सन्धि के विरुद्ध है। उसने भी सुधार चाहने वालों का साथ दिया। गिज़ट ने इसका विरोध किया। अतः इन दोनों नेताओं—थियर्स और गिज़ट—में खूब विरोध बढ़ गया। फ्रान्स के लोग नेपोलियन के समय को भी न भूले थे जब यूरोप भर में उनकी धाक जमी थी। १८४० में जब नेपोलियन का शव गाड़ने के लिये फ्रान्स में लाया गया तो लोगों को यह विश्वास हो गया कि इस वीर की मृतदेह भी आरलीन्स वंश को गद्दी से हटा देगी। वास्तव में उनका यह विश्वास कुछ ही वर्षों में सच्चा हो गया।

मताधिकार बढ़ाने के लिये असन्तोष बढ़ता गया परन्तु राजा फिलिप और मंत्री गिज़ट इसके विरुद्ध थे। अतः थियर्स ने कई स्थानों पर 'सुधार समितियाँ' स्थापित करके उन विचारों का प्रचार किया। राजा ने एक ऐसी बैठक को बन्द कर दिया तथा यहीं से विद्रोह का आरम्भ हो गया। विद्रोहियों को प्रसन्न करने के लिये राजा ने गिज़ट को बरखास्त कर दिया, परन्तु इसी समय सरकारी सिपाहियों ने प्रजा पर गोली चला दी; जिससे वे क्रुद्ध होकर 'बदला' 'बदला' चिल्लाने लगे। शान्ति रखने के लिये जो 'राष्ट्रीय-रक्षकदल' नामक सेना नियत की गयी

थी उसने भी सरकार का पक्ष छोड़कर प्रजा से सहानुभूति दिखलायी। ऐसे समय सैनिक सहायता से रहित होने के कारण राज्य की स्थिति आश्रयहीन हो गयी और राजा फिलिप मंत्री के पद पर थियर्स को नियत करके इंगलैण्ड को भाग गया। फ्रांस में दूसरी वार प्रजातंत्र की स्थापना हुई।

नये संगठन के अनुसार व्यवस्थापन कार्य जनता द्वारा चुने हुए एक प्रतिनिधि मण्डल को दिया गया और उसके सभापति को कुछ विशेष अधिकार दिये गये। दिसम्बर १८४८ में नेपोलियन वोनापार्ट का भतीजा लुई नेपोलियन सभापति चुना गया।

इस भाँति लुई सोलहवें के समय में प्रत्येक वात में राजा के दखल देने के कारण क्रान्ति हुई। चार्ल्स दसवें के समय में सरदारों के विशेषाधिकारों के कारण और फिलिप के समय में मध्यदल के प्रभुत्व के कारण क्रान्ति हुई। पहली क्रान्ति ने न्याय में समानता स्थापित की, दूसरी ने सामाजिक समानता तथा तीसरी ने राजनैतिक समानता स्थापित की। प्रजा के वहुमत के प्रतिकूल चलने से लुई फिलिप का पतन हुआ। उसने मध्य-श्रेणी के लोगों को ही अपना आधार माना और प्रजा की प्रार्थना पर भी मताधिकार वढ़ाकर श्रमजीवियों की वड़ी संख्या को अपनी ओर न मिलाया।

जर्मनी—यहाँ स्वतंत्रता के साथ २ राष्ट्रीय ऐक्य की भी इच्छा थी। पहले वेडन में विद्रोह हुआ जिससे कुछ राजाओं ने डरकर शासन में सुधार किया; परन्तु प्रशा, सेक्सनी, हेनोवर और ववेरिया दृढ़ रहे। इसी समय आस्ट्रिया के विद्रोह का प्रभाव जर्मनी में भी फैला। अतः डरकर फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ

ने भी सुधार किया तथा शेष कई रियासतों ने उसका अनुकरण किया। इसी भाँति यहाँ स्वतंत्रता की विजय हुई।

प्रशा के राजा ने जर्मन ऐक्य का नेता बनना स्वीकृत किया। १८४८ में जनता द्वारा चुनी हुई एक पार्लमेन्ट फ्रेंकफोर्ट में बैठी जिसने संयुक्त जर्मनी के लिये संगठन तैयार किया। इसके अनुसार विलियम जर्मनी का सम्राट् बनाया गया परन्तु इस भय से कि आस्ट्रिया अधीनता स्वीकार न करके झगड़ा करेगा, विलियम ने सम्राट् होना अस्वीकार किया। दूसरे उसे ऐसी क्रान्तिकारी सभा से ऐसा पद प्राप्त करना भी अच्छा नहीं लगा। वह अपने बल से ही प्रधान बनना चाहता था। अतः फ्रेंकफोर्ट पार्लमेन्ट का श्रम विफल हुआ।

इसके बाद विलियम ने स्वेच्छा से जनता को राज्यकार्य में भाग देना आरम्भ किया। उसका उद्देश आस्ट्रिया को निकाल कर शेष जर्मन रियासतों को एक में मिलाना था। अट्ठाईस छोटी रियासतों ने उसका साथ दिया परन्तु आस्ट्रिया ने क्रान्ति के धक्के से सम्हलकर अपना एक अलग संघ बना लिया। प्रशा को हारकर अपना उद्देश छोड़ना पड़ा और आस्ट्रिया से सन्धि करनी पड़ी। इस भाँति कुछ काल के लिये जर्मनी की एकता का विचार स्थगित रहा।

इटली—इस क्रान्ति ने इटली के लोगों को भी फिर एक बार स्वतंत्रता-प्राप्ति का प्रयत्न करने को उत्तेजित किया। नेपिल्स, सिसली, पीडमान्ट, टस्कनी आदि प्रत्येक जगह प्रजा अपने २ राजाओं के विरुद्ध हो गई तथा उसने उन्हें शासन में सुधार करने को विवश किया। मिलन में एक विद्रोह हुआ जिसका उद्देश

आस्ट्रियावालों को वाहर निकालना था। १८४८ तक उनकी विजय होती रही और आस्ट्रिया की शक्ति नष्ट होती ज्ञात हुई परन्तु इटली का नेता चार्ल्स अल्बर्ट दो युद्धों में हार गया और अपने पुत्र को राज्य देकर चला गया।

इङ्गलैण्ड--यहाँ वहुत से मनुष्य १८३२ के सुधारों से सन्तुष्ट न हुए थे। उस सुधार से मध्य श्रेणी के लोगों को मताधिकार मिल गया, परन्तु मजदूर दल अब भी उससे वहिष्कृत था। क्रान्ति के समाचारों से यहाँ भी असन्तोष बढ़ा। अन्त में १८६७ तथा १८८४ में और सुधार किये गये।

आयर्लैण्ड में भी क्रान्ति का समाचार सुनकर असन्तुष्ट दल ने शस्त्र बाँधे। सरकारी सेनाओं ने विद्रोह शान्त किया। फिर भी 'होमरूल' का आन्दोलन चलता रहा।

परिणाम—इस क्रान्ति से उदार दल वालों को बड़ी निराशा हुई क्योंकि क्रान्ति का परिणाम स्थायी न हुआ। प्रायः प्रत्येक स्थान पर स्थिति फिर पूर्ववत हो गयी। पुराने राजा फिर गद्दी पर बैठे, केवल प्रशा और सार्डिनिया में अवश्य कुछ सुधार हुए। असफल होते हुए भी इस क्रान्ति ने स्वेच्छाचरिता की नींव हिलादी। स्वतंन्त्रता के विचार कुछ काल के लिये रुक गये पर सदा के लिये शान्त नहीं हुए तथा अन्त में जर्मनी और इटली में जहाँ इस समय क्रान्ति को दवाने वालों को पूर्ण सफलता मिली—ऐक्य स्थापित हो ही गया।

१८३० तथा १८४८ की क्रान्तियों की तुलना—१८३० की क्रान्ति केवल चार्ल्स दशम की प्रतिक्रिया की नीति के कारण हुई। इसका उद्देश्य राज्य की स्वेच्छाचारिता दूर कर फ्रान्स में

वैध शासन स्थापित करना था। वह प्रजातंत्र स्थापित करने के लिये नहीं था। अतः चार्ल्स दशम के भागने के बाद वहाँ प्रजातंत्र स्थापित नहीं हुआ किन्तु उसके स्थान पर दूसरा राजा ही गद्दी पर बैठा जिसने शासन में सुधार करने का वचन दिया। यह शासन-सुधार ही इस क्रान्ति का उद्देश तथा परिणाम था!

परंतु १८४८ की क्रांति साम्यवाद के विचारों के कारण, प्रजातंत्र स्थापन के लिये थी, जिसका उद्भव राजनैतिक तथा आर्थिक कारणों से हुआ। ऐसे विचारों के साथ राज-प्रथा चल नहीं सकती थी। अतः इसका परिणाम प्रजातंत्र राज्य हुआ।

परिणाम के विचार से दोनों ही क्रांतियाँ समान रूप से असफल रहीं। पहिली के कारण केवल बेलजियम को स्वतंत्रता मिली तथा दूसरी से केवल दो राज्यों—प्रशा और सार्डिनिया में शासनसुधार हुआ, सो भी राजाओं की इच्छा से।

इन क्रांतियों की असफलता का एक कारण यह था कि इनमें प्रजा ने राजाओं का ध्यान बिलकुल छोड़ दिया—उन्हें अपने साथ न लिया। परंतु जब राजा स्वयं इस आन्दोलन के नेता बने तो सफलता मिली। आस्ट्रिया जर्मनी से निकाल दिया गया और जर्मनी में ऐक्य स्थापित हुआ।

—*०*—

पांचवां अध्याय

आस्ट्रिया हंगरी

उन्नीसवीं शताब्दी का आस्ट्रिया-हंगरी का इतिहास बड़ा विषम है; क्योंकि वहाँ यूरोप के प्रायः सभी अन्य देशों से अधिक जातियाँ बसी हैं और सब की राष्ट्रीयता भिन्न है। एक बात में आस्ट्रियन-साम्राज्य अद्वितीय है। दूसरे साम्राज्य तो शस्त्र-बल अथवा उपनिवेश बसा कर स्थापित किये गये हैं, परन्तु इसकी नींव केवल वैवाहिक सम्बन्धों से ही पड़ी और इसीसे उसका बहुत बड़ा भाग बना। इसकी नींव तेरहवीं शताब्दी में डाली गयी थी जब हैप्सबर्ग का काउन्ट (जागीरदार) रुडल्फ़ पवित्र रोमन साम्राज्य का सम्राट् चुना गया। इस भाँति उसने अपनी जागीर में आस्ट्रिया, स्टीरिया तथा रिन्थिया को मिला लिया और उसके उत्तराधिकारियों ने हंगरी तथा बोहेमिया को भी मिला लिया। उन्होंने अपने राज्य को जर्मनी से अलग रखा और जर्मनी में ऐक्य न होने देने का प्रयत्न किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ होते ही आस्ट्रिया को दो नयी उलझनों में पड़ना पड़ा। पाँच सौ वर्ष से वह जर्मनी में प्रधान था। परंतु अब प्रशा की बढ़ती हुई शक्ति उसका मुकाबला कर रही थी। अतः उसे एक तो जर्मनी का नेतृत्व अपने हाथ में रखना था, दूसरे अपने साम्राज्य की भिन्न २ जातियों को इकट्ठा रखना था। आस्ट्रियन साम्राज्य में भिन्न २ जातियों, भाषाओं

तथा धर्मों का विचित्र सम्मिलन था। इनमें हंगरी के मायार, लम्बार्डी के इटालियन तथा बोहेमिया के स्लाव अधिक बलवान थे। एक बार फ्रांसिस द्वितीय ने कहा था 'मेरा राज्य कीड़ों से खाये हुए घर के समान है। यदि उसका एक भाग अलग कर दिया जाय तो कोई नहीं जान सकता कि कितना भाग गिर पड़ेगा।'

उन्नीसवीं शताब्दी में वहाँ मेटरनिक का प्रभाव रहा। वह कट्टर अपरिवर्तनवादी था। वह समझता था कि प्रजा को शासन में भाग देने से सरकार की जड़ निर्बल होती है। अतः उसने सारा जीवन बढ़ते हुए क्रांतिकारी विचारों को दबाने में ही बिताया। इससे राज्य की प्रगति रुक गयी। विश्वविद्यालयों पर विशेष पुलिस का पहरा लगा दिया गया। मेटरनिक ने असन्तुष्ट प्रजा को बलपूर्वक शान्त रखा, परंतु उसके असन्तोष के कारणों को दूर न किया। विनाशकारी शक्तियाँ गुप्त रूप से बढ़ती रहीं और अन्त में १८४८ में ज्वालामुखी के समान फूट पड़ीं। फ्रांस के सफल विद्रोह के समाचार से आस्ट्रिया में भी जगह २ विद्रोह आरम्भ हो गया।

क्रांति के पहले साहित्यिक तथा बौद्धिक जागृति आवश्यक है। परन्तु फिर भी केवल जागृति से ही क्रांति नहीं हो सकती जबतक कि साधारण जनता को आर्थिक कष्ट न हो। आस्ट्रिया के किसानों की दशा बहुत बुरी थी। वे अपने बंधनों को काटने के लिये बहुत उत्सुक थे और उनके बंधन हटाते ही विद्रोह दब गया।

वियाना की सब गलियों में विद्रोह आरम्भ होते ही मेटर-निक अपना पद त्याग कर देश से बाहर भाग गया, परंतु उसका नाम उसकी प्रतिक्रिया की नीति के साथ सदा ही सम्बद्ध

रहेगा जिसके कारण शासन-सुधार एक पीढ़ी तक रुके रहे। इस महामंत्री के पतन से क्रांतिकारियों की भारी विजय हुई; क्योंकि उसके बाद सरकार बिलकुल निर्बल हो गयी और शीघ्र ही सम्राट् को सुधारों की घोषणा करनी पड़ी। प्रेस को स्वतंत्रता मिली, वैध-शासन की स्थापना हुई, वियाना के प्रबंध के लिये २४ मनुष्यों की एक सभा बनी। २५ वीं अप्रैल को नये शासन-विधान की घोषणा की गयी। सबको धार्मिक स्वतंत्रता दी गयी। एक पार्लमेन्ट बनी जिसके दो विभाग थे। फिर भी गरम दल के लोग संतुष्ट न हुए। अतः कुछ दिन बाद मताधिकार सबको दिया गया, और पार्लमेन्ट के दोनों भाग एक में मिला दिये गये।

जर्मन लोग चाहते थे कि आस्ट्रिया भी जर्मनी के अधीन रहे तथा जर्मनी अपने नेतृत्व में सब रियासतों में ऐक्य स्थापित करे; परन्तु आस्ट्रिया के स्लाव, बोहेमिया के जेक तथा कुछ अन्य प्रान्तों के लोग इस ऐक्य के घोर विरोधी थे; क्योंकि इससे उन्हें अपनी राष्ट्रीयता नष्ट हो जाने का भय था। अतः यह ऐक्य सफल न हो सका।

वियाना में लगातार विद्रोह होते देख कर राजा फर्डिनेण्ड अपने भतीजे फ्रांसिस जोसेफ़ को राज्य देकर बाहर भाग गया। परन्तु सरकारी सिपाही उस कठिन समय में राज-भक्त रहे और इस भाँति उन्होंने आस्ट्रिया को एक बड़े संकट से बचा लिया। बोहेमिया और इटली के विद्रोह भी इसी भाँति शान्त कर दिये गये।

हङ्गरी—कई शताब्दियों से हंगरी में वैध-शासन तथा स्वराज्य चला आ रहा था। फ्रांस की राज्यक्रांति से पहले जोसफ़ द्वितीय

ने वहाँ पर ऐक्य तथा केन्द्रित सरकार स्थापित करने का प्रयत्न किया था। उसने प्रान्तीय सभाओं को तोड़ दिया तथा जर्मन भाषा को राज-भाषा नियत किया। परन्तु उसके वाद उसके सब सुधार नष्ट कर दिये गये और सन् १७९१ में वहाँ की डाइट (पार्लिमेंट) ने जोसेफ़ के उत्तराधिकारी लीयोपोल्ड द्वितीय से हंगरी की स्वतन्त्रता स्वीकार करा ली। कर आदि की वसूली डाइट की अनुमति के विना नहीं हो सकती थी। परन्तु फ्रांस की राज्यक्रांति तथा नेपोलियन के युद्धों ने कुछ काल के लिये वहाँ सुधारों को स्थगित कर दिया।

इसके बाद वहाँ भाषा का झगड़ा आरम्भ हुआ। अब तक अदालतों, स्कूलों, गिरजों तथा सभ्य मनुष्यों की भाषा वहाँ लैटिन थी परन्तु अब मागयार भाषा सर्वप्रिय होती जाति थी। बहुत झगड़े के बाद १८४० में मागयार अदालती भाषा स्वीकृत हुई। पाठशालाओं तथा गिरजाघरों में भी उसे ही व्यवहार में लाने की आज्ञा दी गयी परन्तु शासनसुधारों के लिये असन्तोष अब भी बना रहा। इस आन्दोलन का नेता कोसूथ था जो हंगरी को आस्ट्रिया से स्वतन्त्र करना तथा अमीर और गरीबों में समानता स्थापित करना चाहता था। १८४८ में पेरिस तथा वियाना में विद्रोह की खबर सुन कर, कोसूथ द्वारा भड़कायी हुई जनता ने हंगरी में राष्ट्रीय सरकार तथा पार्लमेंट के प्रति उत्तरदाता मंत्रि-मण्डल की स्थापना की प्रार्थना की। लुई कोसूथ गरम दल का नेता था तथा एक राजनैतिक पत्र का सम्पादक होने के कारण बहुत प्रसिद्ध तथा सर्वप्रिय हो गया था। अतः उसका प्रभाव भी बहुत था।

अन्त में मार्च मास में सुधार स्वीकृत हुए जिनके अनुसार उत्तरदायी मंत्रिमण्डल स्थापित किया गया, सर्फ-प्रथा (जिसके अनुसार किसान जमींदारों के गुलाम के समान जमीन जोतनेवाले होते थे) तथा फ्यूडल प्रथा (जिसके अनुसार युद्ध में वीरता के बदले लोगों को जागीरें दी जाती थीं) को दूर कर दिया गया। सरदारों का कर न देने का विशेषाधिकार भी छीना गया तथा मताधिकार उन सबको दिया गया जिनके पास तीस पौण्ड की जायदाद थी। पार्लिमेंट का समय तीन वर्ष के लिये स्थिर किया गया तथा उसकी बैठक प्रतिवर्ष होना निश्चित हुआ। इसके अतिरिक्त प्रेस को स्वतंत्रता मिली तथा धार्मिक स्वतन्त्रता भी दी गयी। इस भाँति मागयार लोगों की यह भारी विजय हुई।

परन्तु विजय के मद में आकर मागयारों ने अन्याय युक्त नीति से काम लिया। आस्ट्रिया हंगरी की आठ भिन्न २ जातियों में से वे एक थे तथा उनकी संख्या शेष सबके आधे से भी कम थी। (बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में हंगरी की आबादी दो करोड़ के लगभग थी जिनमें ८५ लाख मागयार थे।) परन्तु फिर भी वे राष्ट्रीयता का केवल अपना ही अधिकार समझते थे, अन्य जातियों को अपने समान न मानते थे। १८४० के कानून के अनुसार उनकी भाषा राजभाषा मान ली गयी थी और धीरे २ उसका सर्वत्र प्रचार भी हो जाता। परन्तु मागयार लोग गर्व तथा जोश में आकर कहने लगे कि बिना भाषा की एकता के राष्ट्रीय एकता होनां असम्भव है। अतः समस्त गिरजों, पाठशालाओं तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं में मागयार भाषा का बहुत शीघ्र प्रयोग आरम्भ होना चाहिये। अन्य जातियों पर उन्होंने अपनी

भाषा लादने के लिये अत्याचार भी आरम्भ कर दिये। इस आन्दोलन का अर्थ यह था कि अन्य जातियाँ अपनी २ राष्ट्रीयता खोकर मागयारों में मिल जायँ; परन्तु इस अन्याय तथा अत्याचार से वे जातियाँ और क्रुद्ध हो गयीं।

उत्तर की स्लाव जातियाँ स्लोवक कहलाती थीं। मागयारों के अत्याचारों को देख कर उनके एक नेता ने एक बार कहा था—'मागयारों के प्रभुत्व के स्थान पर हम रूसियों की अधीनता स्वीकार कर लेंगे क्योंकि रूसी तो हमारे शरीर को ही दास बनाते हैं परन्तु मागयार हमें नैतिक पतन तथा मृत्यु दण्ड से डराते हैं।'

इन जातियों ने अपनी स्लाव भाषा का पुनरुद्धार किया। इसका श्रेय कवि कोलार को है। उसने कहा—'बिखरे हुए स्लाव लोगों! एक हो जाओ, अब अलग २ न बने रहो, हमें अपनी पितृभूमि के जंगल, नदी, नाले, मकान सभी प्यारे हैं तथा उनकी स्मृति हमारे हृदय में सदा रहती है, उसने राजनैतिक एकता के स्थान पर भाषा की एकता पर अधिक जोर दिया। १८४२ में स्लाव लोगों ने राजा के पास एक प्रार्थनापत्र भेजा जिसमें लिखा था कि हमारी राष्ट्रीयता भिन्न है।' हमारी उन्नति हमारी मातृभाषा की उन्नति से ही हो सकती है न कि मागयार भाषा से। शताब्दियों से हमारे अधिकार अन्य जातियों के समान रहे हैं। वे ही हमें फिर दिये जाँय।

दक्षिण हंगरी की स्लाव जातियाँ भी जो क्रोट तथा सर्व कहलाती थीं, मागयारों की नीति से असन्तुष्ट थीं। उनमें भी समाचार-पत्रों के प्रभाव से राष्ट्रीय जागृति हुई। इसी प्रकार

सेक्सन, रोमानियन आदि अन्य जातियाँ भी मागयारों से क्रुद्ध थीं। देश के अन्दर तथा बाहर भी अन्य जातियों से युद्ध करना मागयारों के लिये कठिन था। अतः यह उनकी भारी भूल थी कि उन्होंने समान अधिकार देकर अन्य जातियों को शांत नहीं किया। उनका नेता कोसूथ भी उदार नीति के लाभों को न समझ सका क्योंकि वह जातीय द्वेष के कारण अन्धा सा हो रहा था। इस नीति के कारण ही हम उसे एक अच्छा राजनीतिज्ञ नहीं कह सकते। सर्वों के एक प्रतिनिधि-मण्डल के सामने उसने कहा था कि स्लाव भाषा मागयार भाषा की कभी समानता नहीं कर सकती। स्लाव जातियों ने इस चुनौती को स्वीकार किया तथा हंगरी से पृथक् होकर अपने प्राचीन अधिकारों तथा स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये आन्दोलन जारी रखा।

वैरन जैलासिक उन लोगों का नेता बना जो हेप्सवर्ग वंश के आधीन एक स्लाव राज्य स्थापित करना चाहते थे। इसका उद्देश्य हंगरी को दो भागों में बाँटकर मागयार लोगों को निर्बल बनाना था।

जैलासिक ने क्रोटों की डाइट (पार्लमेण्ट) की एक बैठक करायी, जिसने अपने ऊपर हंगरी के मंत्रियों का अधिकार अस्वीकृत किया तथा क्रोटिया (क्रोट लोगों का प्रान्त) को हंगरी से स्वतंत्र घोषित किया। सर्व लोगों ने भी क्रोटों से मिलकर अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। उत्तर की स्लोवक जातियों में भी असन्तोष बढ़ रहा था।

चारों ओर असन्तोष देखकर आस्ट्रिया के राजा ने एकदम सेना लेकर हंगरी पर आक्रमण कर दिया। आरंभ में आस्ट्रिया की सेना की विजय रही। हंगरी की सेना ३० अक्तूबर १८४८ को

वियाना के पास हरा दी गयी तथा दो मास बाद हंगरी की राजधानी भी छिन गयी। परंतु हारे हुए मागयारों ने एक बार फिर हिम्मत बाँधी तथा फिर ज़ोर से युद्ध आरंभ कर दिया और उनकी विजय ने संसार को चकित कर दिया जो यह समझ बैठा था कि वे अब जीत न सकेंगे। कोसूथ की सलाह से मागयार पीछे हटते गये और फिर अवसर पाकर उन्होंने एकाएक आक्रमण करके छोड़ी हुई सब भूमि छुड़ा ली और आस्ट्रियनों को बाहर निकाल दिया। इसी भाँति दक्षिण से भी वे निकाल दिये गये।

यदि मागयार लोगों में राजनैतिक चतुरता होती तो वे इस समय बहुत कुछ पा सकते थे परन्तु हंगरी का भाग्य कोसूथ के हाथ में था जिसने इस विजय से उन्मत्त होकर १४ अप्रैल १८४९ को घोषणा की कि हंगरी स्वतंत्र है। उसने कहा हैप्सबर्ग राजा को गद्दी से उतारा जायगा और अब आस्ट्रिया में प्रजातंत्र राज्य होगा। यह कार्य वियाना कांग्रेस के उद्देशों के विरुद्ध था। अतः उन्नत विचारों के शत्रु रूस के ज़ार निकोलस को इस झगड़े में हस्तक्षेप करने का बहाना मिल गया। रूसियों की एक सेना आस्ट्रियनों की सहायता के लिये आ गयी जिससे मागयारों को अपनी स्थिति सम्हालना कठिन हो गया। स्थिति भयंकर देखकर मागयारों ने अन्य जातियों तथा भाषाओं की समानता स्वीकार कर ली तथा उनकी और भी शिकायतें दूर कर दीं। परन्तु अब समय निकल चुका था। हंगरी वालों ने वीरता से युद्ध किया किन्तु वे हार गये। १४ अगस्त को कोसूथ तुर्की को भाग गया। दो दिन बाद हंगरी की सेना ने रूसियों की अधीनता स्वीकार कर ली और हंगरी की क्रान्ति समाप्त हो गयी।

आस्ट्रिया ने इस विद्रोह के लिये कड़ा दण्ड दिया। तेरह जनरलों (सेनापतियों) तथा अन्य कई मनुष्यों को प्राणदण्ड दिया और असंख्य को कारागार। शासन-सुधार तथा मागयारों के सब राजनैतिक अधिकार छीन लिये गये। हंगरी के साथ ही अन्य सब जातियों के राजनैतिक अधिकार भी ले लिये गये। बोहेमिया की भाँति हंगरी भी आस्ट्रिया का एक प्रान्त बना लिया गया। बड़े पद फिर आस्ट्रियनों तथा जर्मनों को दिये जाने लगे और जर्मन भाषा फिर सब जगह प्रचलित की गयी।

परन्तु आस्ट्रिया की यह नीति भी सफल न हुई। इससे राज्य में न ऐक्य हुआ, न सन्तोष, न राज्य का बल बढ़ा। अतः इटली वालों ने उन्हें दो स्थानों पर हरा दिया।

१८६० में फिर प्रजा को अधिकार-पत्र दिया गया जिसके अनुसार हंगरी को फिर वे सब अधिकार दिये गये जो क्रान्ति के आरंभ होने के पहले उसे प्राप्त थे। राज्य-प्रबन्ध के बड़े २ पद फिर मागयारों को दिये जाने लगे, डाइट की फिर स्थापना की गयी और हंगरी स्वतंत्र मान लिया गया। फिर भी उन्हें सन्तोष न हुआ, तो फरवरी १८६१ में एक और परवाना दिया गया, जिसके अनुसार समस्त साम्राज्य के लिये एक शासन विधान तैयार किया गया जिसमें हंगरी भी सम्मिलित था।

किन्तु हंगरी की डाइट ने इन सब सुधारों को अस्वीकृत कर दिया। उनका नेता इस समय फ्रांसिस डीक नामक एक चतुर राजनीतिज्ञ था। वह १८४८ के कानूनों को फिर वापस चाहता था क्योंकि वे राजा तथा प्रजा दोनों की सम्मति से बनाये गये थे। वह राजभक्त था। १८४९ में विद्रोह के समय उसने लिखा था—

'हमें साम्राज्य की स्थिति संकटमय बनाने की इच्छा नहीं है और न हम ऐक्य को तोड़ना चाहते हैं। हम तो मागयारों तथा अन्य जातियों में समानता चाहते हैं।'

१८६७ में आस्ट्रिया तथा प्रशा में युद्ध हुआ जिस में आस्ट्रियावाले सेडोवा स्थान पर हार गये। हंगरी के लोग असन्तुष्ट रहने के कारण इस युद्ध में सम्मिलित न हुए थे। अतः उन्हें इस वर्ष और शासनासुधार दिये गये। राजा फ्रांसिस जोसफ ने अपना राज्य दो स्वतंत्र भागों—आस्ट्रिया और हंगरी में बाँट दिया। दोनों की शासनपद्धति तथा दोनों के कानून और प्रबन्ध भिन्न २ हुए। आन्तरिक मामलों में हंगरीवालों को अधिक अधिकार दिये गये। डीक ने यह स्वीकार कर लिया कि दोनों देशों का स्वार्थ समान है और उसके लिये सहयोग तथा सम्मिलित सेना की आवश्यकता है। अतः बाहरी झगड़ों, युद्धों, सन्धियों, सेना तथा उसके व्यय आदि के लिये एक उभयनिष्ट मंत्रिमण्डल स्थापित किया गया। आस्ट्रिया की राजधानी वियाना तथा हंगरी की बूडापेस्ट नियत हुई।

इस भाँति दो बड़ी जातियों—जर्मनों और स्लावों—में ऐक्य स्थापित किया गया। फिर भी हंगरी में जातीय द्वेष के कारण यह प्रबन्ध भी न चला।

दूसरे वर्ष 'राष्ट्रीयता-विधान' पास किया गया जिसके शब्द ये थे—'हंगरी के सब नागरिक एक राष्ट्र के अंग हैं। यह राज्य अविभाज्य है तथा पितृभूमि का प्रत्येक नागरिक उसका सभ्य है'। सब प्रान्तों को भाषा की स्वच्छन्दता दी गयी।

इसके आगे का इतिहास हम यथास्थान बीसवीं शताब्दी के महायुद्ध के पहले तथा पीछे देखेंगे।

छठवाँ अध्याय

फ्रान्स में पुनः राजस्थापना तथा क्रान्ति

१८४८ की क्रान्ति ने फ्रान्स के प्रजातांत्रिक विचारों में युगान्तर उपस्थित कर दिया। बढ़े हुए मताधिकार ने मध्यश्रेणी के लोगों से शक्ति छीनकर साधारण जनता को दी। अब तक वहाँ के लोगों का विचार था कि शासन-पद्धतियों के लिये झगड़ना मूर्खों का काम है, वही पद्धति अच्छी है जिस से राज्यप्रबंध भलीभाँति हो। परन्तु अब उन्हें निश्चय हो गया कि सब से अच्छी शासन-विधि प्रजातंत्र ही है। यह क्रान्ति साम्य-वाद के विचारों के कारण हुई थी। अतः उन्हीं सिद्धान्तों पर नये शासनविधान की रचना हुई। श्रमजीवियों की ओर अधिक ध्यान दिया गया और प्रत्येक श्रमजीवी को उद्योग में लगाना राज्य का कर्त्तव्य ठहराया गया। राष्ट्रीय कारखाने जगह २ खोले गये। लुई ब्लैंक के सभापतित्व में एक 'श्रमजीवी–पार्लमेन्ट' की स्थापना हुई जिसका उद्देश्य श्रमजीवियों के दुखों का अन्त करना था।

थोड़े ही समय पीछे राष्ट्रीय कारखाने असफल हो गये। क्योंकि १२०००० मनुष्य उद्योग के लिये सरकार के ऊपर निर्भर होगये। सरकार इतने मनुष्यों को काम न दे सकी। थोड़े बहुत जो कारखानों में भी गये वे अशिक्षित तथा अनुभवहीन थे।

अतः अच्छा काम न कर सके। उन्हें तनख्वाह देना प्रजा के धन को बर्बाद करना था। अतः ये कारखाने बन्द कर दिये गये। निराश श्रमजीवियों ने अब शस्त्र लेकर पेरिस की गलियों में हुल्लड़ मचा दिया परन्तु चार दिन बाद वे दबा दिये गये। इससे लोगों को सामाजिक समानता और श्रमजीवियों के कष्ट दूर करने का स्वप्न हवा हो गया।

कोई भी मनुष्य किसी क्रांति की प्रगति अथवा उसके परिणामों को नहीं जान सकता। १७८९ तथा १८४८ की दोनों क्रांतियाँ इस उद्देश्य से की गयीं कि प्रजा का राज्य स्थापित हो परन्तु दोनों का परिणाम 'नेपोलियन का साम्राज्य' हुआ।

विद्रोह शान्त होने पर सार्वजनिक चुनाव द्वारा एक नयी सभा बनी जिसका कार्य नयी शासन-पद्धति तैयार करना था। पाँच सभासदों की एक कार्यकारिणी समिति बनायी गयी। सर्व-सम्मति से चुने हुए प्रतिनिधियों की एक व्यवस्थापक सभा बनी जिसका एक सभासद नेपोलियन बोनापार्ट का भतीजा लुई नेपोलियन भी था। कार्यकारिणी-समिति के सभापति का काल चार वर्ष नियत हुआ। पहले चुनाव में ही लुई नेपोलियन बहुत अधिक वोटों से सभापति बना। उसने नयी शासन-पद्धति के अनुसार चलने की शपथ खाकर भी उसके विरुद्ध आचरण करना आरंभ कर दिया। प्रजातंत्र पक्ष के बड़े नेता केवेना की असफलता से उसे प्रकट हो गया था कि प्रजातंत्र पक्ष निर्बल है। अतः उसने पहले अपनी शक्ति स्थायी और स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न किया। फ्रान्स का बहुमत अपने पक्ष में करने के लिये उसने रोम का विद्रोह दबा कर पोप को फिर वहाँ की गद्दी पर

बिठाया। इससे फ्रांस के कैथोलिक पादरी तथा किसान उससे बहुत प्रसन्न हुए। धीरे २ वह प्रजातन्त्रवादी मंत्रियों तथा सभासदों को बदल २ कर अपने पक्ष के आदमी उनके स्थान पर नियत करने लगा और अन्त में उसने दिसम्बर १८५१ में बल-प्रयोग द्वारा अपने विरोधी नेताओं को कैद कर लिया तथा जनता से अपील की—वह उसे दस वर्ष के लिये सभापति बनावे तथा नयी शासन-विधि बनाने का अधिकार दे।

श्रमजीवी आन्दोलन को क्रूरता से दबाने के कारण फ्रान्स के अधिकांश लोग प्रजातंत्र के विरुद्ध हो गये थे। दूसरे उनमें 'नेपोलियन' नाम से भी प्रीति उत्पन्न हो गयी थी। अतः उन्होंने लुई नेपोलियन की अपील को बड़े हर्ष से सुना और उसे दस वर्ष के लिये सभापति नियत कर दिया। यह उसकी उन्नति की पहिली सीढ़ी हुई। सालभर बाद उसने अपने सम्राट् होने की घोषणा कर दी और अपना नाम नेपोलियन तृतीय रखा। बहुमत ने इस कार्य में भी उसे सहायता दी।

अब फ्रांस में फिर निरंकुश राज्य आरम्भ हो गया; परन्तु उसका ढङ्ग ऐसा था जिससे लोगों को यही जान पड़े कि फ्रांस में प्रजातन्त्र है। एक सीनेट तथा एक व्यवस्थापक सभा ने वैध-शासन का दिखावटी ढोंग जारी रखा। कार्यकारिणी शक्ति, सेना और जल सेना का अधिकार, युद्ध अथवा सन्धि, और कानून आदि बनाने का अधिकार सम्राट् के हाथ में रहा। मन्त्री गण पार्लिमेन्ट के प्रति नहीं, बल्कि सम्राट् के प्रति उत्तरदाता थे। अतः वे पूर्णतः सम्राट् के ही अधीन थे। म्युनिसिपल कमेटियों के सभ्य तथा सभापति भी सम्राट् द्वारा नियत किये जाते थे।

प्रेस तथा व्यक्तिविशेष की स्वतन्त्रता पुलिस द्वारा किसी भी समय हरण की जा सकती थी।

व्यवस्थापक सभा के तीन भाग थे—लेजिस्लेटिव वॉडी, काउन्सिल और सीनेट। पहली के सभासद सर्वसम्मति द्वारा चुने जाते थे, परंतु चुनने वालों पर पूरा दवाव डाला जाता था,। यह सभा न नये नियम वना सकती थी, न सरकार द्वारा उपस्थित किये गये प्रस्तावों में संशोधन कर सकती थी। दूसरी सभा—काउन्सिल उन प्रस्तावों पर वाद-विवाद किया करती थी। तीनों सभाओं के सभापति तथा तीसरी सभा-सीनेट-के सव सभासद भी सम्राट् द्वारा नियत किये जाते थे। इसका काम, कानून तथा शासन-पद्धति वनाना था।

उदार साम्राज्य—सन् १८६० में पूर्ण स्वच्छन्द हो चुकने के वाद सम्राट् ने अपनी नीति वदल दी और छीने हुए अधिकार लोगों को वापिस देने चाहे; जिससे वे प्रसन्न रहें। लेजिस्लेटिव वॉडी तथा सीनेट को पहली ही वार अधिकार दिया गया कि वे सरकारी नीति की निष्पक्ष समालोचना करें। दूसरे वर्ष उन्हें वजट के कुछ हिस्सों पर मत देने का अधिकार मिला तथा १८६७ में मंत्रियों के वक्तव्य की आलोचना करने का भी अधिकार मिला। अगले वर्ष प्रेस को भी स्वतंत्रता दी गयी तथा सार्वजनिक सभाएँ करने की भी आज्ञा दी गयी। इन सुधारों का कारण यह था कि सम्राट् से राज्य की वहुत सी श्रेणियाँ अप्रसन्न हो रही थीं। उसने आस्ट्रिया के विरुद्ध इटली के विद्रोहियों को सहायता दी जिनसे पोप को भी भय था। अतः केथोलिक लोग उससे अप्रसन्न थे। उसने इंग्लैण्ड से संधि करके आने वाले माल

पर कर कम कर दिया जिससे व्यापारी असंतुष्ट हो गये। इसके अतिरिक्त प्रजातंत्र-पक्षी उदार दलवाले और आरलीन्स वंश के पक्षपाती तथा अन्य कई दल भी उससे असंतुष्ट थे।

नीति—नेपोलियन तृतीय ने यद्यपि फ्रांस को बहुत से राजनैतिक अधिकारों से वंचित कर दिया; परंतु उसकी सामाजिक तथा धार्मिक नीति ने इसका बदला चुका दिया। वह आस्ट्रिया के जोसेफ द्वितीय अथवा प्रशा के फ्रेडरिक महान् के समान प्रजा का 'हितचिन्तक स्वेच्छाचारी राजा' था। ईसाई-धर्म की विजय ने दास-प्रथा नष्ट की, क्रान्ति की विजय ने सर्फ-प्रथा नष्ट की तथा साम्यवाद के विचारों ने भिखारी-वृत्ति नष्ट की। नेपोलियन तृतीय ने दीनों और भिखमंगों की ओर विशेष ध्यान दिया। रेल, तार, और डाक की उन्नति की, जिससे उद्योगों की वृद्धि हुई। ग़रीबों के लिये रोटियों की कीमत कम की गयी। आवश्यकता के समय उन्हें धन देने के लिये फण्ड खोले गये और बेकारी दूर रखने के लिये बहुत से काम चालू कर दिये गये।

नेपोलियन तृतीय की परराष्ट्र-नीति अधिक प्रसिद्ध है। उसने अपना अधिकांश समय बाहरी झगड़ों में ही बिताया। इसीलिये कहा जाता है कि 'नेपोलियन तृतीय के समय का इतिहास यूरोप का इतिहास है, फ्रान्स का नहीं?' वह जानता था कि उसकी प्रतिष्ठा उसके चाचा ही के कारण है। अतः उसने चाचा की नीति का अनुसरण किया। वह यह भी जानता था कि फ्रान्सीसियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सैनिक तथा दूसरों पर हुकूमत करने की है। उसने यह भी सोचा कि यदि प्रजा का ध्यान युद्धों की ओर लगा रहेगा तो वे उसकी आन्तरिक स्वेच्छाचारी नीति की ओर

ध्यान न देंगे। अतः उसने अपने राज्यविस्तार की नीति अंगीकार की। उसकी बुद्धि तथा दूरदर्शिता बहुत से समकालीन राजाओं तथा राजनीतिज्ञों से अधिक थी, पर वह अपने विचारों के अनुसार ठीक २ कार्य न कर सका जिससे अन्त में उसकी नीति के कारण ही उसका पतन हुआ।

उसने फ्रान्स के रोमन कैथोलिक लोगों का पक्ष लेकर जेरूसलेम के पवित्र स्थानों पर अपना अधिकार बताया परन्तु रूस का ज़ार उन्हें अपना समझता था। इसी झगड़े से क्रीमिया का युद्ध आरम्भ हो गया जिसमें पाँच लाख मनुष्यों की जानें गयीं। इंगलैण्ड तुर्की पर रूस का अधिकार न चाहता था। अतः उसने भी भाग लिया। १८५६ में 'पेरिस की सन्धि' से इस युद्ध का अन्त हुआ। काले सागर तथा डान्यूब नदी द्वारा व्यापार करने का अधिकार सबको मिल गया। तुर्की ने डान्यूब नदी के तट के प्रदेश स्वतंत्र कर दिये तथा अपनी ईसाई प्रजा को मुसलमानों के समान अधिकार दिये। इसपर यूरोपीय शक्तियोंने तुर्की को अखण्डित रखने का वचन दिया। यद्यपि ये शर्तें बहुत दिन न चलीं पर फ्रांस की कीर्ति इस युद्ध से बढ़ी।

फिर नेपोलियन ने इटलीवालों की सहायता की जो आस्ट्रिया की अधीनता से मुक्त होना चाहते थे। इससे आस्ट्रिया और इंगलैण्ड अप्रसन्न हो गये और प्रशा भी डरा। फिर उसने पोलैण्ड की सहायता के लिये तैयार होकर रूसियों को भी रुष्ट कर दिया। इस भांति उसने प्रायः समस्त यूरोप को अपने विरुद्ध कर लिया जिससे उसकी कीर्ति और प्रतिष्ठा घटी और अन्त में पतन हुआ।

यूरोप में अपना राज्य न बढ़ता देख कर उसने 'नयी दुनिया' में एक कैथोलिक साम्राज्य स्थापित करना चाहा। मेक्सिको में उस समय आन्तरिक झगड़े चल रहे थे। अतः उसने अपने लिये वही स्थान उपयुक्त समझा। उसने वहाँ के प्रजातंत्र को नष्ट करके आस्ट्रिया के आर्क ड्यूक मेक्सीमिलियन को वहाँ का राजा बना दिया। परन्तु दूसरे वर्ष (१८६५ में) अमेरिका की 'संयुक्त रियासतों' ने अपने झगड़ों से निवृत्त होकर इधर ध्यान दिया। फ्रान्स का यह कार्य प्रेसीडेण्ट मनरो के नियमों के विरुद्ध था जिनके अनुसार यह माना जा चुका था कि यूरोप की शक्तियों को अमेरिका के आन्तरिक झगड़ों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। अब नेपोलियन को दो बातों में से एक करना आवश्यक था या तो वह मेक्सिको से अपनी सेना हटावे या संयुक्त रियासतों और मेक्सिको की सम्मिलित सेना से अच्छी तरह लड़ने का प्रबंध करे। उसने पहली बात पसंद की और १८६७ में अपनी सेना हटा ली, परंतु मेक्सीमिलियन ने सिंहासन छोड़ने से इनकार किया। अतः वह क़ैद करके मार डाला गया। इससे फ्रांस की बड़ी अपकीर्त्ति और निंदा हुई कि उन्होंने अमेरिका वालों से डरकर और हार मानकर अपनी सेना लौटा ली और एक विदेशी राजकुमार को इस कार्य के लिये उत्साहित करके उसे शत्रुओं के हाथ में सौंप दिया जिससे उसकी जान गयी।

सम्राट् की स्थिति भयंकर थी। इसी समय फ्रेंको-प्रशियन युद्ध आरंभ हो गया जिसमें सेडान स्थान पर फ्रांस वाले बुरी तरह हार गये और सम्राट् क़ैद हो गया। तत्काल उसके साम्राज्य का अंत हो गया। फ्रांस ने एक भारी रकम क्षतिपूर्त्ति के लिये

देकर प्रशा से संधि कर ली और तीन दिन बाद फिर प्रजातंत्र की घोषणा कर दी। यह तृतीय प्रजातंत्र था, जो अब तक चला आ रहा है।

इस भाँति नेपोलियन तृतीय भी नेपोलियन प्रथम की भाँति समस्त यूरोप की शांति भंग करके अंत में पराजय पाकर मरा। वह बुद्धिमान् मनुष्य था, उसने चाचा की नीति का अनुसरण करना चाहा; परंतु उसमें चचा के समान चतुरता, मौलिकता, सैनिक-चातुर्य आदि एक भी गुण न था। नेपोलियन बोनापार्ट ने अपने अनुपम चातुर्य और व्यक्तित्व के कारण उच्च पद पाया था और विजय पर विजय प्राप्त करके तथा फ्रांस में शांति रख के उसे स्थिर रखा। उसकी प्रजा उसे बहुत प्यार करती रही। नेपोलियन तृतीय ने कपट से पद प्राप्त किया तथा वह फ्रांस के एक दल-विशेष का नेता रहा, समस्त फ्रांस का नहीं। शासन के दोष तथा अत्याचार छिपाने के लिये उसने लोगों का ध्यान बाहरी युद्धों की ओर लगा रखा, जिससे प्रशा के साथ युद्ध से उसके वंश का अंत हो गया। वह नेपोलियन प्रथम का आभास मात्र था। अतः विक्टर ह्यूगो ने उसे 'नेपोलियन महान्' के मुक़ाबले में 'नेपोलियन लघु' की उपाधि दी है।

सातवाँ अध्याय

इटली की एकता तथा स्वतंत्रता

यह आश्चर्यजनक ज्ञात होता है कि वह देश—जिसने रोम की उन्नति तथा अवनति देखी, जिसने युरोप को क़ानून, सभ्यता, धर्म, विद्या तथा अन्य अनेक वातें सिखलायीं—सब से पीछे यूरोप का एक राष्ट्र वने, किंतु हमें स्मरण रखना चाहिये कि वहाँ पर देश की एकता में विघ्न डालनेवाले वहुत से कारण उपस्थित थे। रोम साम्राज्य के टूटने पर इटली अनेक छोटी २ रियासतों में वँट गया, जो आपस में द्वेष रखती थीं। अतः वहाँ सदा ही विदेशियों का प्रभुत्त्व रहा। उत्तर—टस्कनी, परमा, मोडेना आदि में आस्ट्रिया का राज्य था, तथा दक्षिण—नेपिल्स और सिसली में वोर्वन वंश का। पोप का राज्य भी ऐक्य में वड़ा वाधक था, फिर वहाँ राष्ट्रीय जागृति भी नहीं थी। प्रत्येक प्रांत की रीतियाँ भिन्न थीं। मेटरनिक ने लिखा था—'इटली में प्रांत, प्रांत के विरुद्ध है, नगर, नगर के विरुद्ध है, कुटुम्व, कुटुम्व के तथा मनुष्य मनुष्य के विरुद्ध है।'

नेपोलियन के साम्राज्य ने वहाँ पहली ही वार एकता के विचारों को जागृत किया। उसने आस्ट्रियन तथा वोर्वन लोगों को वाहर निकाल दिया, पोप का राज्य छीन लिया और सव जगह एक कानून तथा प्रवंध स्थापित किया। इससे यह सिद्ध हो गया कि इटली की एकता साध्य है।

वियाना कांग्रेस ने राष्ट्रीय विचारों की अवहेलना करके वहाँ पर फिर पूर्ववत् स्थिति करनी चाही। वेनेशिया और लम्बार्डी (जो दो प्रांत होने पर भी एक राजा के अधीन थे और जिनकी राजधानी वेनिस तथा मिलन थी) फिर आस्ट्रिया को दिये गये और मोडेना, परमा आदि में भी पुराने राजवंशों की स्थापना की गयी। इस भाँति आस्ट्रिया फिर इटली में वलवान् रहा और अब उसने और भी अधिक अत्याचार आरम्भ कर दिये। मेज़िनी ने कहा था–'हम इटलीवालों की न पार्लमेन्ट है, न हमें प्रेस की स्वतंत्रता है, न वोलने या सभाएँ करने का अधिकार है और न जनता के विचारों को प्रकट करने का कोई अन्य साधन है।'

क्रान्ति ने स्वतंत्रता के भावों को जन्म दे दिया था, दमन से वे शान्त न हुए। किसी राष्ट्र की स्वतंत्रता के भावों को दमन से दवाना उसी प्रकार असम्भव है जिस प्रकार नदी को पहाड़ के ऊपर चढ़ाना। देशभक्ति का स्रोत पृथ्वी के ऊपर जगह न पाकर उस के अन्दर ही अन्दर वड़े वेग से वहने लगा। अनेक गुप्त सभा–समितियाँ वन गयीं। अनेक युवकों ने देश सेवा के लिये अपना जीवन अर्पण कर दिया और स्वतंत्रता के भावों का खूब प्रचार किया।

गुप्त सभाओं में एक 'कारवनारी' वहुत प्रसिद्ध है। इसके संचालकों ने चारों ओर विद्रोह का प्रचार कर दिया। इसी कारण नेपिल्स में १८२० में विद्रोह हुआ; परन्तु वह आस्ट्रियन सेना की सहायता से दव गया। इसी प्रकार पीडमोन्ट में भी विद्रोह दवा दिया गया। १८३० में परमा, मोडेना आदि के भी विद्रोह इसी प्रकार दवा दिये गये।

परन्तु इन असफल विद्रोहों द्वारा प्राप्त किया हुआ अनुभव व्यर्थ न गया। इससे उन्हें यह प्रकट हो गया कि पहले विदेशियों को इटली से वाहर निकालना चाहिये और आस्ट्रियनों का जुआ उतार फेंकना चाहिये। उद्देश्य एक होते हुए भी उसके प्राप्त करने के साधनों तथा उपायों के विषय में मतभेद होना सम्भव है। भारतवर्ष की राजनैतिक दशा भी इस समय इसी प्रकार की है। इटली के दलों के भी कार्यक्रम भिन्न भिन्न थे तथा उन दलों में आपस में अविश्वास भी था।

इन दलों में तीन दल प्रधान थे। एक दल यह चाहता था कि इटली की सव रियासतें मिलकर एक संघ वना लें और पोप उसका प्रधान रहे। इसका कारण यह था कि सन् १८४६ में पियोनोनो पोप हुआ। वह उदार विचार तथा आस्ट्रियनों के प्रति द्वेष रखने के कारण इटली में सर्वप्रिय था। अतः उसके पदारूढ़ होने पर जनता ने वहुत हर्ष मनाया। उसने आते ही अपने यहाँ के राजनैतिक अपराधियों को कारा-मुक्त कर दिया। यह कार्य आस्ट्रिया को चुनौती देने के समान था, क्योंकि इससे यह प्रकट हो गया कि इटलीवालों के यहाँ देशभक्त होना कोई अपराध नहीं है। फिर पायस ने जनता के प्रतिनिधियों की वनी हुई काउन्सिल तथा म्युनिसिपैलटियाँ स्थापित करके जनता को और भी प्रसन्न कर लिया। इस कारण वहुत से लोग पोप को ही नेता मानने को तैयार हो गये।

दूसरा दल व्यावहारिक दृष्टि से यह उचित समझता था कि सार्डिनिया (पीडमौंट) के राजा के नेतृत्व में इटली में एक वैध-शासन स्थापित हो। इसका कारण यह था कि १८३१ में

वहाँ पर चार्ल्स अलबर्ट गद्दी पर बैठा। वह बड़ा देशभक्त था। उसने कहा था—'इटली के लिये मैं अपना जीवन, अपने पुत्र का जीवन, सब शस्त्र तथा कोष और सब कुछ निछावर करने को तैयार हूँ।' उसके पास सेना भी काफ़ी थी।

तीसरा दल प्रजातंत्र का पक्षपाती था। इसका नेता मेज़िनी था, जो अपने उच्च आदर्श तथा स्वार्थरहित देशभक्ति के लिये प्रसिद्ध है। वह १८०४ में उत्पन्न हुआ था और फिर 'कारबनारी' नामक गुप्त सभा का सभासद हुआ, जिसमें वह पकड़ा गया और १८३१ में वह देश से निकाल दिया गया। कुछ वर्षों बाद देश में लौटने पर उसने 'तरुण इटली' नामक एक दल की स्थापना की, क्योंकि वह देश के नवयुवकों को देश का उद्धारकर्ता समझता था। उसका कहना था—'विद्रोही जन-समूह के आगे युवकों को रखो। तुम्हें नहीं मालूम कि इन युवा हृदयों में कितनी शक्ति छिपी हुई है, तथा ये अपनी आवाज़ से जन-समूह पर कैसा जादू का सा प्रभाव डाल सकते हैं?' शीघ्र ही उस के साथ अनेक उत्साही नवयुवक हो गये जो देश के लिये अति कठिन कष्ट सहने को तैयार थे। वे नीची श्रेणियों तथा दीन लोगों में जाकर उनकी दशा का उन्हें ज्ञान कराते थे। उनकी पूर्व की उन्नति बताते थे तथा समझाते थे कि वे किस प्रकार अनेक अधिकारों से वंचित किये गये हैं।

सब से पहले यह विचार मेज़िनी के दिल में ही दृढ़ हुआ कि इटली की एकता सम्भव है। वह जनता में विद्या का खूब प्रचार करना चाहता था, जिससे लोग स्वयं अपनी स्थिति जान लें। यह जान जायँ कि उनका देश राजनैतिक विभागों में बँटा

होने पर भी प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक दृष्टि से एक है और विदेशियों ने उसे अप्राकृतिक ढंग से विभक्त करने का यत्न किया है। वह अपने अनुयायियों को यह शिक्षा देता था कि 'जब तक अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिये नैतिक शक्ति लगाने का तुम्हारे लिये मार्ग खुला है, तब तक बल-प्रयोग से काम न लो, परन्तु जब नैतिक शक्ति निरर्थक हो, जब अत्याचार इतना बढ़ जाये कि तुम्हें अपनी उचित मांग प्रकट करने का कोई मार्ग न रहे, जब शस्त्रबल से विचार दबा दिये जाँय तो अपने हाथ बाँध लो और जेलखाने या फांसी पर जाकर अपनी सत्यता प्रकट करो। जब तक तुम्हारी संख्या कम हो और तुम्हें अपनी विजय की आशा न हो, तब तक ऐसा ही करो परन्तु जब तुम्हारी संख्या अधिक हो तो तुम अत्याचार को बल-प्रयोग से दबाओ।'

इटली के उद्धारकों में मेज़िनी का स्थान बहुत ऊँचा है। इटली की एकता और स्वतंत्रता की ओर सब से पहले उसीने पैर उठाया। उसके दल ने देश में राष्ट्रीय विचारों का खूब प्रचार किया, परन्तु वह पूर्ण सफल न हुआ।

१८४८ की क्रान्ति से आस्ट्रिया के महामंत्री मेटरनिक का पतन हुआ। इससे उत्साहित होकर मिलन और वेनिस के लोगों ने आस्ट्रिया की सेना को हराकर वहाँ प्रजातंत्र की घोषणा कर दी। पीडमोन्ट के राजा चार्ल्स अलबर्ट ने तथा कुछ अन्य राजाओं ने भी उन्हें बहुत सहायता दी। परंतु कुछ दिन बाद पोप ने आज्ञा निकाली कि आस्ट्रिया एक कैथोलिक देश है। अतः उस से युद्ध करना धर्म-विरुद्ध है। अब सब रियासतें धीरे २ चार्ल्स अलबर्ट से अलग हो गयीं और तब आस्ट्रियन सेना ने उसे

नोंवारा स्थान पर हरा दिया। इस पराजय से इटली की सब आशाएँ धूल में मिल गयीं। बना बनाया खेल बिगड़ गया। लोग अब प्रजातंत्र के पक्षपाती होने लगे। इन झगड़ों से तंग आकर चार्ल्स अलबर्ट अपने पुत्र विक्टर एमेनुएल द्वितीय को राज्य देकर देश से बाहर चला गया। इटली की स्थिति फिर पूर्ववत् हो गयी।

किन्तु इसके बाद भी इटली में विद्रोह की आग शान्त नहीं हुई। अब सब लोग विक्टर एमेनुएल की ओर देखने लगे। संकट के समय इटली की सब रियासतों ने देशभक्तों का साथ छोड़ दिया था। किन्तु सार्डिनिया का राजा उनके साथ रहा था और हारने पर भी उसने अपने यहाँ के शासनसुधार नष्ट नहीं किये थे। फिर वहीं का राजवंश अब तक विदेशी रक्त के मिश्रण से बचा था। उसमें इटली का रक्त बहुत अधिक था। सौभाग्य से इस समय सार्डिनिया का प्रधान मंत्री एक बड़ा चतुर राजनीतिज्ञ—काउन्ट कावूर था, जिसके समय से इटली के स्वातंत्र्य युद्ध का दूसरा अध्याय आरम्भ होता है।

कावूर १८५२ से १८६० तक रहा। उसने देश की अवस्था में बहुत सुधार किये। आर्थिक प्रबन्ध ठीक किया, रेल का प्रचार बढ़ाया, व्यापार-कर कम किया, कृषि तथा सेना में खूब सुधार किये। इस से प्रजा प्रसन्न रही और विदेशियों से युद्धों में सहर्ष साथ देती रही।

कावूर ने समझ लिया कि मेजिनी के उपायों तथा षड्यंत्रों से इटली को स्वतंत्रता नहीं मिलेगी। उसने सबसे पहले यह सोचा कि स्वतंत्रता पाने के लिये इटली को विदेशी शक्तियों की

सहायता की आवश्यकता है। १८५४ में क्रीमियन युद्ध आरम्भ हुआ। कावूर ने रूस के विरुद्ध इङ्गलैण्ड और फ्रांस का साथ दिया और इस भाँति यूरोप की प्रधान शक्तियों की सहानुभूति अपनी ओर कर ली। १८५६ में पेरिस की कान्फ्रेन्स में आस्ट्रिया के विरोध करते रहने पर भी कावूर इटली की ओर से प्रतिनिधि की भाँति बुलाया गया। वहाँ उसने इटली में आस्ट्रियन राज्य की कड़ी आलोचना की तथा उससे अनेक हानियाँ बताई। इससे फ्रांस के सम्राट् नेपोलियन तृतीय ने कावूर से सन्धि कर ली जिसकी शर्त यह थी कि यदि सेवाय प्रान्त फ्रांस को दे दिया जाय तो वह इटली की सहायता करेगा।

अब कावूर ने अपनी सेना बढ़ाना आरंभ किया। कुछ काल तक आस्ट्रिया चुपचाप यह देखता रहा, पर अन्त में वहाँ के युद्ध, प्रिय दल के दवाव से आस्ट्रिया ने कावूर को सेना बढ़ाने से रोका। कावूर के यह आज्ञा न मानने पर आस्ट्रिया ने युद्ध की घोषणा कर दी। कावूर तो युद्ध होने का कोई बहाना ढूँढ ही रहा था। अतः उसने आस्ट्रिया की चुनौती को झट स्वीकार कर लिया। वह जानता था कि इस समय यूरोप की प्रधान शक्तियाँ शान्ति का प्रयत्न कर रही हैं। अतः आस्ट्रिया की युद्ध-घोषणा से वे उससे अप्रसन्न होंगी और इटली से सहानुभूति दिखायँगी। उसे अपनी विजय का भी पूर्ण विश्वास था। युद्ध से पहले उसने पीडमोण्ट की एक पार्लमेण्ट में कहा था—"यह पीडमोण्ट की अन्तिम पार्लमेण्ट है। अब दूसरी पार्लमेण्ट 'इटली राज्य' की पार्लमेण्ट होगी।"

अप्रैल १८५९ में आस्ट्रिया ने पीडमोण्ट पर आक्रमण करके

युद्ध आरंभ कर दिया। फ्रांस और सार्डिनिया की सम्मिलित सेना ने आस्ट्रिया की सेना को कई स्थानों पर हराकर अन्त में मेगेण्टा और सलफरीनी स्थानों पर पूर्ण रूप से हरा दिया और लम्बार्डी पर अधिकार कर लिया। इटली की विजय बिलकुल निकट दिखाई दी। परंतु अकस्मात् नेपोलियन तृतीय ने युद्ध रोक कर विलोफ्रैंका स्थान पर आस्ट्रियनों से जुलाई में संधि कर ली, जिसके अनुसार लम्बार्डी विक्टर एमेनुएल को दिलवा दी गयी। परन्तु वेनिशिया आस्ट्रिया के पास रहने दिया, और सेवाय तथा नाइस उसने स्वयं ले लिये। इस प्रकार अकस्मात् संधि का कारण कदाचित् यह था कि नेपोलियन को डर था कि कहीं प्रूशा आस्ट्रिया की सहायता को न आ जाय। दूसरे उसे संयुक्त इटली से भी भय था।

इस प्रकार लम्बार्डी का एमेनुएल को मिलना ही इटली की एकता की पहली सीढ़ी थी। विलाफ्रैंका की संधि से इटली वाले बड़े निराश हुए। कावूर को तो इस समाचार से एकदम धक्का लगा क्योंकि इससे उसकी सोची हुई सब तरकीबें धूल में मिल गईं। क्रुद्ध होकर उसने अपने राजा से कहा कि वह उस संधि को अस्वीकार कर दे परन्तु राजा की नीति यह थी कि जो मिल गया है उसे ले ले और आगे अधिक के लिये प्रयत्न करे। अतः उसने विलाफ्रैंका की संधि मान ली। इस पर कावूर ने त्यागपत्र दे दिया।

इस सन्धि से इटलीवालों को यह अनुभव हो गया कि स्वतंत्रता के लिये उन्हें अपने ही पैरों पर खड़ा होना चाहिये। इसी समय टस्कनी, परमा, मोडेना और रोमेना की रियासतों ने

स्वयं सार्डिनिया में सम्मिलित होने की इच्छा प्रकट की। उनकी इच्छा तो अपने यहाँ प्रजातंत्र राज्य स्थापित करने की थी। इसी लिये उन्होंने अपने २ राजाओं को भगाया किन्तु उन्हें आस्ट्रिया की सेना से डर था। अतः उन्होंने सार्डिनिया के साथ रहना ही अच्छा समझा। १८६० में ट्यूरिन स्थान पर उनकी सम्मिलित पार्लमेंएट की बैठक हुई। यह ऐक्य की दूसरी सीढ़ी हुई।

इसी समय इटली के दक्षिण में सिसली द्वीप में विद्रोह हुआ। वहाँ के बोर्बन राजवंश का १८६० में अंत हो गया। देशभक्त वीर सिपाही गेरीवाल्डी अपनी लाल कमीज़ की वर्दी की एक सहस्र सेना लेकर ११ मई को वहाँ पहुँचा और एक मास के भीतर वहाँ की २०,००० सेना को हरा दिया। उस द्वीप को सार्डिनिया में मिलाने की घोषणा करके वह नेपिल्स आया, जहाँ का राजा उससे पहले ही भाग गया था। वहाँ वालों ने भी गेरीवाल्डी का सहर्ष स्वागत किया।

कावूर इस समय फिर अपने पुराने स्थान पर आ गया था। उसने समझ लिया कि अब समय आ गया है कि सार्डिनिया की सरकार इटली की स्वतंत्रता का नेतृत्व ग्रहण करे। गेरीवाल्डी अब रोम की ओर बढ़ रहा था और संभव था कि वह पोप को भगा कर रोम को अपनी राजधानी बनाता। इस भाँति यह झगड़ा अंतरराष्ट्रीय हो जाता और बाहरी देश इटली में हस्तक्षेप करते। अतः उसने शीघ्र ही यह आंदोलन अपने हाथ में लेना चाहा। विक्टर एमेनुएल सेना लेकर पोप के राज्य में पहुँचा और उसने अंब्रिया और मार्च प्रांतों को मिलाकर गेरीवाल्डी के कार्य को पूरा किया। गेरीवाल्डी ने भी राजा के पहुँचने पर

अपनी सब शक्ति उसके हाथ में सौंप दी। राजा ने उसे अनेक पुरस्कार देने चाहे। परंतु उसने सबको अस्वीकार किया और वह अलग हो गया। इसी स्वार्थ-रहित आदर्श देशभक्ति के कारण गेरीवाल्डी का नाम इटली के इतिहास में सदा अमर रहेगा। अब एमेनुएल को 'इटली का राजा' की पदवी मिली। इसके कुछ दिन बाद ही कावूर की मृत्यु हो गयी।

कावूर राजनीति तथा कूटनीति का उत्कट विद्वान् था। इटली की स्वतंत्रता के लिये बाहरी सहायता की आवश्यकता को सब से पहले उसीने अनुभव किया। किसी ने लिखा है—'यदि यूरोप की सहानुभूति तथा सहायता प्राप्त करने के लिये कावूर न होता तो मेज़िनी के विद्रोही प्रयत्न, तथा गेरीवाल्डी की सैनिक विजय और वीरता सब निष्फल हो जाती। उसने देश में सब भाँति की उन्नति कर उसे आदर्श बना दिया।

अब प्रायः समस्त इटली एक हो गया था। उसकी इमारत को पूर्ण करने के लिये केवल दो पत्थरों की कमी रह गयी थी—केवल दो स्थान अब तक विदेशियों के अधीन थे। वेनेशिया अब तक आस्ट्रिया के पास था तथा रोम में फ्रांसीसी सेना की सहायता से पोप का अधिकार था। १८६६ में आस्ट्रिया तथा पूशा में युद्ध हुआ। इटली ने पूशा का साथ दिया। यद्यपि इटली की सेना हार गयी, परंतु पूशा ने सेडोवा स्थान पर आस्ट्रिया को पूर्णतया हरा दिया जिससे वेनेशिया इटली को मिल गया और अत्यधिक बहुमत से वह इटली में सम्मिलित कर लिया गया।

१८७० में फ्रांस और पूशा में युद्ध हुआ। फ्रांस को अपनी रोम-स्थित सेना की आवश्यकता पड़ी। उसके हटते ही एमेनुएल

ने रोम पर अधिकार कर लिया और उसे संयुक्त इटली की राजधानी बनाया।

इस भाँति मेजिनी की नैतिक शक्ति तथा राष्ट्रीय भावों की जागृति से, गेरीवाल्डी की तलवार से, कावूर की कार्यपटुता तथा राजनैतिक चतुरता से और राजा एमेनुएल की सुबुद्धि से इटली का स्वतंत्रता तथा एकता का पुराना स्वप्न १८७० में पूर्ण हो गया।

इसके बाद समय समय पर वहाँ मताधिकार बढ़ाया गया तथा अंत में १९१२ में सबको यह अधिकार दिया गया। स्वतंत्रता पाकर इटली ने बहुत उन्नति की है तथा यूरोप के बाहर भी अपना विस्तार बढ़ाया है। वह यूरोप के प्रधान शक्तिमान् राष्ट्रों में गिना जाता है। एमेनुएल १८७८ में मर गया।

पोप के रहने के लिये वेटिकन नामक स्थान—जहाँ उसका महल है—तथा कुछ आसपास का इलाक़ा दे दिया गया है। यहाँ इटली का कानून नहीं चलता। पोप अपने इलाके का पूर्ण स्वतंत्र राजा है। किन्तु पोप अब तक इटली पर राजा के अधिकार को अन्याययुक्त मानते हैं। किन्तु वे कुछ करने से विवश हैं। अतः स्वयं ही प्रायः अपने महल से बाहर नहीं निकलते।

आठवाँ अध्याय

जर्मनी की एकता

फ्रांस की राज्यक्रांति का सबसे अधिक प्रभाव जर्मनी पर पड़ा। क्रांति से पहले यहाँ दो सौ से अधिक रियासतें थीं, जो सब स्वतंत्र थीं। हेप्सबर्ग वंश का राजा सम्राट् होता था, परंतु शक्ति में प्रशा का राज्य सबसे प्रबल था। अतः वह आस्ट्रिया का प्रतिद्वन्दी था। शेष रियासतों में से कुछ आस्ट्रिया की ओर थीं, कुछ प्रशा की ओर। इन रियासतों को सम्बद्ध करनेवाली एक सभा डाइट थी जिसमें राजाओं तथा नगरों के भेजे हुए प्रतिनिधि रहते थे। यह सभा शक्तिहीन थी।

नेपोलियन कभी २ नवीन जर्मनी का संस्थापक कहा जाता है। उसने जर्मनी की दो सौ स्वतंत्र रियसतों में से केवल ३९ रहने दीं। उसने वहाँ एक जर्मन साम्राज्य की स्थापना की। १८०६ में 'पवित्र रोमन साम्राज्य' का अंत हुआ और उसकी जगह 'राइन-संघ' ने ली, जिसका संचालक स्वयं नेपोलियन था। उसके इस अधिकार से जर्मनी में राष्ट्रीयता के भाव जागृत हो गये; जिसके कारण जर्मनों ने स्वतंत्रता का युद्ध आरंभ कर दिया। वियाना कांग्रेस ने ३९ रियासतों का गुट बना दिया किंतु यह राजाओं का मेल था, प्रजा का नहीं। परंतु अब वहाँ भी जनता एक होना चाहती थी।

विश्वविद्यालयों के छात्रों तथा प्रोफ़ेसरों में क्रांतिकारी विचार फैल रहे थे। १८१७ में उन्होंने रिफार्मेशन की त्रिशताब्दी तथा

लिपज़िग युद्ध की शताब्दी के उपलक्ष्य में वार्टबर्ग में उत्सव मनाया। इससे वहाँ के अधिकारियों को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने दमन आरंभ कर दिया। विश्वविद्यालयों पर कड़ा पहरा लगाया गया। नये पत्रों तथा ग्रन्थों की कड़ी जाँच की जाने लगी। गुप्त समितियों का पता लगाने के लिये एक अलग कमेटी नियत कर दी गयी। इस भाँति बहुत कुछ अशान्ति दब गयी।

सन् १८३० की फ्रान्स की क्रान्ति का प्रभाव जर्मनी पर पड़ा जिस से आस्ट्रिया और प्रशा को छोड़कर शेष प्रायः सब रियासतों में शासन-सुधार हुआ। १८४८ में फिर वहाँ ऐक्य की इच्छा हुई और उदार दल के नेता समस्त जर्मनी के लिये एक शासनविधि तैयार करने के लिये फ्रेंककोर्ट में एकत्र हुए। इन्होंने निश्चय किया कि प्रति पचास सहस्र मनुष्य पीछे एक प्रतिनिधि चुना जाय। इन्होंने प्रशा को अपना नेता बनाया किन्तु वहाँ के राजा ने यह पद अस्वीकार कर दिया। यदि यह सभा सफल हो जाती तो जर्मनी बहुत से झगड़ों से बच जाता और वहाँ ऐक्य स्थापित हो जाता। परन्तु इनमें योग्य मनुष्य न थे, न उनमें अपने निश्चयों को कार्यान्वित करने की दृढ़ता थी। कार्ल मार्क्स ने इसे 'बूढ़ी औरतों की सभा' कहा है।

जब यह सभा कार्य कर रही थी तभी एक झगड़ा उपस्थित हो गया। श्लेस्विग और हालस्टीन ये दो जागीरें बहुत दिनों से डेनमार्क के राजा के अधीन चली आती थीं। परन्तु इनके निवासी अधिकांश जर्मन थे। १८४८ में उन्होंने डेनमार्क के विरुद्ध विद्रोह कर दिया और जर्मनी से मिलने की इच्छा प्रकट की। प्रशा का राजा फ्रेडरिक विलियम चतुर्थ (१८४०–६१) उन्हें मिलाने को

तैयार हो गया, परन्तु अन्य देशों ने ऐसा न करने दिया। इस पर उन प्रान्तों ने जर्मनी की राष्ट्रीय-सभा से जो फ्रैंकफोर्ट में बैठी हुई जर्मनी को एक करने की आयोजना कर रही थी, सहायता की प्रार्थना की। उन्होंने यूरोपीय शक्तियों के इस हस्तक्षेप को अनुचित बताया और कहा कि राजा हमें स्वयं मिला लें। किन्तु फ्रेडरिक विलियम तैयार न हुआ।

इसी बीच में कुछ जर्मन विद्रोहियों ने राष्ट्रीय सभा के दो सभासदों को मार डाला। इन कारणों से इस सभा का मान चला गया। बड़ी कठिनाइयों के बाद इस सभा ने यह निश्चय किया कि आस्ट्रिया जर्मनी से अलग रखा जाय और प्रशा शेष जर्मनी का नेता बने। किन्तु प्रशा ने आस्ट्रिया के भय से इसे अस्वीकार कर दिया। कुछ दिन बाद आस्ट्रिया, बवेरिया, सेक्सनी, आदि के प्रतिनिधि चले गये। यद्यपि २८ रियासतों ने इस आयोजन को पसन्द किया था किन्तु वे शक्तिहीन थीं और बड़ी रियासतों का कुछ न कर सकती थीं।

इस भाँति यद्यपि जर्मनी की एकता का स्वप्न धूल में मिलता दिखायी दिया परन्तु दूसरी ओर ऐसे कारण उपस्थित हो रहे थे जिन्होंने शीघ्र ही जर्मनी की समस्त जनता को एक कर दिया।

जर्मनी में नेपोलियन के अधिकार के परिणाम को हम देख ही चुके हैं। उसने जर्मनी में केवल ३९ रियासतें रहने दीं। पोलैण्ड की लूट के समय जो भाग प्रशा को मिला था अब वह उसके हाथ से निकल चुका था किन्तु उसके बदले प्रशा को आधा सेक्सनी प्रान्त मिला था। इससे नान-जर्मन जातियाँ उसके

राज्य से बाहर हो गयीं और जर्मन जातियाँ उसके अन्दर आ गयीं। प्रशा और आस्ट्रिया में यही बड़ा अन्तर था। जहाँ प्रशा के अधिकांश निवासी जर्मन थे, वहाँ आस्ट्रिया में अनेक जातियों तथा धर्मों के लोग थे।

१८१५ के बाद राजनीतिज्ञों तथा व्यापारियों आदि को भी जर्मनी का ३९ स्वतंत्र रियासतों में बटा होना भी अखरने लगा। प्रत्येक राज्य में कस्टम ड्यूटी भिन्न थी। अतः व्यापार में बड़ी असुविधा होती थी। दस पन्द्रह मील माल ले जाने में व्यापारी को कई स्थानों पर भिन्न २ कर देने पड़ते थे। प्रशा ने इसे दूर करने की आयोजना की। पहले उसने अपने राज्य के ही भिन्न २ प्रान्तों में एक समान महसूल की दर नियत की फिर इस विषय में आसपास की रियासतों से लिखापढ़ी की।

जनवरी १८३४ में एक ज़ुलवरीन अथवा समान कर संघ स्थापित हुआ जिसमें १७ रियासतें सम्मिलित थीं। अब सामान एक राज्य से दूसरे राज्य में बिना कर के जा सकता था। यद्यपि आष्ट्रिया ने इसमें सम्मिलित होने से साफ़ इनकार कर दिया किंतु अन्य रियासतों को अपने ही हित के विचार से इसमें सम्मिलित होना पड़ा। इस ऐक्य के शुभ परिणामों पर एक कवि ने सुंदर कविता की जिसमें उसने कहा कि गाय, भैंस, दियासलाई, बूट आदि ने जर्मनी को राजनैतिक ऐक्य से भी अधिक एक और दृढ़ कर दिया है। यह व्यापारिक ऐक्य ही राजनैतिक ऐक्य का श्रीगणेश है।

१८६१ में विलियम प्रथम प्रशा की गद्दी पर बैठा। उसने अपने पूर्वाधिकारी भाई के राज्य से यह अनुभव कर लिया था कि

प्रशा को विजयी होने के लिये अपनी सेना बढ़ानी चाहिये। अतः उसने गद्दी पर बैठते ही यह कार्य शीघ्रता से आरम्भ कर दिया। उसकी इस नीति का पार्लमेण्ट आदि सभाओं की ओर से बहुत विरोध किया गया, किन्तु वह दृढ़ रहा। उसने सैनिक शिक्षा सबके लिये अनिवार्य कर दी और सेना भी दो लाख से बढ़ाकर पाँच लाख कर दी। इस पर डाइट ने इस बढ़े हुए व्यय को अस्वीकार कर दिया। अब राजा बहुत घबड़ाया। वह सेना घटाने के बजाय राज्य छोड़ देने तक को तैयार था। इसी समय उसने एक चतुर राजनीतिज्ञ को अपना प्रधान मंत्री बनाया जिसने शीघ्र ही सब काम ठीक कर लिया। यह मनुष्य ओटो वॉनबिस्मार्क था। उसके आते ही जर्मनी में एक नया युग उपस्थित हो गया।

बिस्मार्क लगभग २५ वर्ष तक जर्मनी का भाग्य-विधाता रहा और उसने जर्मनी को सर्व-प्रधान सैनिक शक्ति बना दिया। इस समय का इतिहास बिस्मार्क की अपूर्व राजनीतिज्ञता, दूरदर्शिता तथा उद्देश-प्राप्ति के लिये दृढ़ता का इतिहास है। वह भी जर्मनी में ऐक्य चाहता था किन्तु उसका कार्यक्रम सभी से भिन्न था। वह यह बात नहीं मानता था कि जर्मनी बिना युद्ध किये एक हो जायगा। वह कहता था कि बिना शस्त्र-बल तथा युद्ध के जर्मनी में ऐक्य होना असंभव है। वह आस्ट्रिया को शस्त्र-बल से जर्मनी से बाहर निकालना आवश्यक समझता था। डाइट के विरोध करते रहने पर भी वह सेना बढ़ाता रहा और डाइट के अस्वीकृत बजट को अपने विशेषाधिकार से पास करता रहा। वह जानता था कि यदि उसके विरुद्ध कोई विद्रोह होगा तो वह उसे सैनिक सहायता से भली भाँति दबा देगा।

बिस्मार्क ने अपनी चतुराई से कई बार जर्मनी को संकट से बचाया। १८६२ में फ्रान्स के नेपोलियन तृतीय तथा रूस के ज़ार में सन्धि हुई। रूस जर्मन की एकता न चाहता था। अतः भय था कि फ्रान्स और रूस मिलकर जर्मनी को पूर्णतया हरा देंगे। परन्तु दूसरे वर्ष जब पोलैण्ड वालों ने रूस से विद्रोह किया और इङ्गलैण्ड और फ्रान्स के प्रजामत ने पोलों का मत समर्थन किया तो बिस्मार्क ने अपनी सेना रूस की सहायता को भेज दी। उधर प्रजामत से प्रेरित होकर नेपोलियन तृतीय को पोलों का पक्ष लेकर रूस का विरोध करना पड़ा। इस भाँति रूस और फ्रान्स की मित्रता टूट गयी। बिस्मार्क ने रूस को युक्ति से अपनी ओर मिला लिया और फ्रान्स अकेला रह गया।

बिस्मार्क को अपने उद्देश की प्राप्ति के लिये तीन युद्ध करने पड़े—पहला डेनमार्क से, दूसरा आस्ट्रिया से तथा तीसरा फ्रान्स के नेपोलियन तृतीय से। जर्मन-एकता के युद्ध में भी इटली की भाँति तीन नाम प्रधान हैं। राजा विक्टर एमेनुएल के स्थान पर राजा विलियम प्रथम, मंत्री कावूर के स्थान पर मंत्री बिस्मार्क तथा गेरीवाल्डी के स्थान पर जनरल मोल्ट के।

स्लेस्विग-हाल्स्टीन का झगड़ा

ये दोनों जागीरें डेनमार्क से सम्बद्ध होने पर भी स्वतंत्र थीं। चार शताब्दियों से डेनमार्क का राजा इन दोनों प्रान्तों का भी ड्यूक होता था परन्तु इनके कानून, शासनविधि आदि डेनमार्क से भिन्न थे और यहाँ जर्मन भाषा बोली जाती थी। यहाँ 'सैलिक लॉ' नामक एक ऐसा नियम था जिसके अनुसार राजा की

पुत्री गद्दी पर नहीं बैठ सकती थी। इस समय डेनमार्क का राजा निःसन्तान मरता हुआ ज्ञात हुआ। अतः वहाँ के लोगों ने राजा के जीवन-काल में ही इन दोनों जागीरों को डेनमार्क में मिला लेना चाहा जिससे पीछे झगड़ा न हो परन्तु जागीरों के लोग इस मेल के कट्टर विरोधी थे। १८४८ में उन्होंने जर्मनी से मिलने की इच्छा प्रकट की थी। अतः १८६३ में जब डेनमार्क के राजा नवें क्रिश्चियन ने इन जागीरों के नियम तोड़कर उन्हें अपने देश में मिलाना चाहा तो ये लोग बड़े क्रुद्ध हुए। बिस्मार्क ने हस्तक्षेप करने का यह अच्छा अवसर समझा परन्तु यूरोपीय शक्तियों के भय के कारण उसने एक मित्र आस्ट्रिया को भी अपने साथ ले लिया। आस्ट्रिया फ्रान्स के नेपोलियन तृतीय से अप्रसन्न था। अतः उसने प्रशा से मेल कर लिया। १८६४ में युद्ध हुआ जिसमें डेनमार्क वालों को हरा कर दोनों जागीरें उनसे छीन ली गयीं। परन्तु इनका बँटवारा करते समय बिस्मार्क की चाल से आस्ट्रिया और प्रशा में भी झगड़ा हो गया। बिस्मार्क ने इसलिये युद्ध किया था कि ये दोनों जागीरें उसे मिल जायँ।

आस्ट्रिया से युद्ध—बिस्मार्क यह चाहता ही था कि आस्ट्रिया से युद्ध का कोई बहाना मिले। अतः उसने जान बूझ कर आस्ट्रिया को क्रुद्ध किया। अब आस्ट्रिया से लड़ने के लिये उसने इटली से सहायता माँगी और इटली ने वेनिस मिलने के लोभ से (जो अबतक आस्ट्रिया के अधिकार में था) प्रसन्नता से उसका साथ दिया। बवेरिया, सेक्सनी तथा अन्य कई रियासतों ने आस्ट्रिया का साथ दिया। १८६६ में युद्ध आरम्भ हो गया। प्रशा की नयी शक्ति का यह पहला ही बड़ा युद्ध था तथा इसी

में पहले २ नये साधनों से काम लिया गया। सेनाएँ रेलों द्वारा भेजी गयीं और खबरें तारों द्वारा। प्रशा के पास अच्छी सुशिक्षित सेना थी। उसके सेनापति वॉन मोल्टके ने सेक्सनी पर अधिकार कर लिया तथा अन्त में आस्ट्रिया की सेना को सेडोवा स्थान पर बुरी तरह हरा दिया।

यद्यपि आस्ट्रियनों ने इटली की सेना का हरा दिया किन्तु इसका कुछ प्रभाव न पड़ा। प्रेग की सन्धि से वेनेशिया प्रान्त इटली को मिल गया। स्लेस्विग-हाल्स्टीन प्रशा में मिलाये गये और आस्ट्रिया ने जर्मनी से बाहर निकलना स्वीकार कर लिया। इसके अतिरिक्त हैनोवर राज्य, हीस जागीर, तथा फ्रेंकफोर्ट नगर भी जर्मनी में मिला लिये गये। अब बिस्मार्क ने उन रियासतों को दबाया जिन्होंने आस्ट्रिया का साथ दिया था। इस भाँति जर्मनी की जनसंख्या में चालीस लाख की वृद्धि हुई।

अब बिस्मार्क ने अपने राज्य को नये ढंग से संगठित किया। मेन नदी के उत्तर की सब रियासतों का प्रशा की अधीनता में एक संघ बनाया और शासन-कार्य के लिये दो सभायें बनीं। पहली रीस्टाग जिसमें सब रियासतों के सर्वसम्मति द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि रखे गये तथा दूसरी बन्डेसराथ जिसमें राजाओं की ओर से भेजे हुए प्रतिनिधि रखे गये। रीस्टाग नये नियम बनाती तथा बजट पास करती थी परन्तु अंगरेजी पार्लमेन्ट की भाँति उसे शासन तथा राज्य-प्रबंध करने का अधिकार न था और न मंत्री-गण उसके प्रति उत्तरदाता होते थे। प्रबन्ध करने वाले अफ़सरों के ऊपर एक चांसलर होता था जिसके प्रति सब मंत्री उत्तरदायी थे। पहला चांसलर बिस्मार्क ही हुआ।

मेन नदी के दक्षिण की रियासतें-बवेरिया, वार्टमबर्ग, बेडन और हीस स्वतंत्र रहीं परन्तु उन्हें नेपोलियन तृतीय से भय था। अतः उन्होंने भी प्रशा से सन्धि कर ली जिससे उनकी सैनिक शक्ति पर प्रशा का अधिकार हो गया।

फ्रैंको-प्रशियन युद्ध

इस समय फ्रान्स में नेपोलियन तृतीय अप्रिय हो चला था। मेक्सिको की हार से प्रजा उससे बहुत अप्रसन्न थी। फिर वह आस्ट्रिया तथा प्रशा के युद्ध से अपना कुछ लाभ भी न कर सका। फ्रांसीसी लोग बहुत दिनों से अपने देश की सीमा राइन नदी तक बढ़ाना चाहते थे, परन्तु नेपोलियन ने यह अवसर भी चुका दिया। इसमें भी लोग उससे अप्रसन्न हुए।

नेपोलियन ने यह समझा था कि प्रशा और आस्ट्रिया के युद्ध में जब दोनों शक्तियाँ थक कर धन-जन-हीन हो जायँगी तब मैं बीच में पड़कर दोनों से मनमानी शर्तें करा लूँगा किन्तु सेडोवा के युद्ध से उसकी सब आशाएँ विफल हो गयीं।

जीते हुए भाग में से विस्मार्क ने फ्रांस को कुछ दिया नहीं और नेपोलियन को लक्समबर्ग लेने से रोक दिया। नेपोलियन ने अब विस्मार्क से प्रस्ताव किया कि यदि विस्मार्क बवेरिया, पैलेटिनेट तथा हीस ज़िले उसे दे दे तो वह उसकी ओर हो जायगा। विस्मार्क ने लिखित प्रस्ताव माँगा और उसके करने के बाद अवसर पड़ने पर प्रकट करने के लिये अपने पास रख लिया। यह उसने इसलिये किया कि नेपोलियन के इस प्रस्ताव के कारण जर्मनी के राष्ट्रीय भाव फ्रान्स के विरुद्ध हो जाते क्योंकि वह [illegible]

के विरुद्ध राष्ट्रीय युद्ध चाहता था जिससे जर्मनी के सब लोग आपस के भेदभाव छोड़ कर उसका साथ दें।

इस प्रकार फ्रांस और प्रशा में मनमुटाव बढ़ गया। दोनों ही देश युद्ध के लिये तैयार थे। फ्रांस अपने पड़ोस में नया जर्मन संघ बना देख कर अप्रसन्न था तथा प्रशा को राष्ट्र-निर्माण पूरा करने के लिये फ्रांस से युद्ध की आवश्यकता थी। ऐसे समय ज़रा सा भी बहाना युद्ध के लिये काफ़ी था।

बहाना ढूँढ़ने में भी देर न लगी। सन् १८६८ में स्पेन के लोगों ने अपनी रानी आइजाबेला से ऊबकर विद्रोह करके उसे भगा दिया और होहेनजोलर्न वंश के लीयोपोल्ड को सिंहासन पर बिठाया। परन्तु लीयोपोल्ड प्रशा के राजा का सम्बन्धी था। अतः पेरिस में उसके विरुद्ध बड़ा आन्दोलन मचा। फ्रांस को यह भय था कि लीयोपोल्ड के स्पेन की गद्दी पर बैठने से स्पेन में भी प्रशा का प्रभाव पड़ेगा और इस भाँति फ्रांस को दोनों ओर से खटका हो जायगा। फ्रांस के विरोध के कारण लीयोपोल्ड ने स्पेन का सिंहासन अस्वीकार कर दिया। इतने से सन्तुष्ट न होकर नेपोलियन तृतीय ने अपने राजदूत द्वारा राजा विलियम से यह स्वीकार कराना चाहा कि भविष्य में भी होहेनजोलर्न वंश का कोई राजकुमार स्पेन की गद्दी पर न बैठेगा। विलियम ने यह समाचार तार द्वारा अपने मंत्री बिस्मार्क के पास भिजवाया। बिस्मार्क इस समय युद्ध चाहता था। उसका विचार ठीक था कि आस्ट्रिया की हार से प्रशा का प्रभुत्व जर्मनी में स्थापित हुआ है। फ्रांस की हार से प्रशा के नेतृत्व में जर्मन-साम्राज्य स्थापित हो जायगा। उसने युद्ध के लिये यह अवसर बहुत उपयुक्त समझा और

फ्रांसीसी राजदूत की राजा विलियम के साथ भेंट को इस प्रकार प्रकाशित कराया जिससे यह प्रकट हो कि विलियम ने फ्रांस के राजदूत का अपमान किया है। फ्रांस में इस समाचार से बड़ा क्रोध फैला। राजदूत के अपमान को उन्होंने अपना राष्ट्रीय अपमान समझा। इसी समय फ्रांसीसियों के विरुद्ध जर्मनी के राष्ट्रीय भाव जगाने के लिये बिस्मार्क ने नेपोलियन के उस लिखित प्रस्ताव को प्रकट किया जिसमें उसने जर्मनी के कुछ भाग बिस्मार्क से माँगे थे। इसे देखकर जर्मनी में भी फ्रांस के विरुद्ध क्रोध फैल गया। बिस्मार्क चाहता भी ऐसा ही था जिससे जर्मनी के दक्षिण की रियासतें राष्ट्रीयता के विचार से फ्रांस के विरुद्ध उसका साथ दें।

१८७० में युद्ध आरम्भ हो गया। नेपोलियन को यह आशा थी कि दक्षिण जर्मनी की रियासतें प्रशा से द्वेष के कारण उसका साथ देंगी परन्तु जर्मनी भारतवर्ष नहीं था। दक्षिणी रियासतों में राष्ट्रीयता का विचार था। वे आपस में लड़ सकती थीं किन्तु किसी विदेशी को स्वदेशियों के विरुद्ध सहायता नहीं दे सकती थीं। प्रशा के अपमान को उन्होंने अपना अपमान समझ कर उसका साथ दिया। इस प्रकार जर्मनी स्वयं एक राष्ट्र बन गया। कई शताब्दियों के बाद अब फिर सम्पूर्ण जर्मनी अपने चिर-शत्रु फ्रांस से युद्ध के लिये चला तथा उसने उसे वर्थ और ग्रेवलोथ स्थानों पर हराया।

अन्त में २ सितम्बर १८७० को सेडान के बड़े युद्ध में पौने दो लाख फ्रांसीसी सेना ने वान मोल्टके सामने शस्त्रास्त्र रखकर आत्म-समर्पण कर दिया। स्वयं सम्राट् नेपोलियन तृतीय भी क़ैद कर लिया गया।

इस भयंकर समाचार को सुन कर फ्रांस की जनता ने फिर प्रजातन्त्र की घोषणा कर दी और गेम्बेटा के अधीन अस्थायी सरकार स्थापित कर ली। विजयी जर्मन सेना ने चार मास बाद पेरिस में घेरा डाला। फ्रांसीसियों ने बड़ी वीरता से युद्ध किया पर अन्त में वे हार गये। फ्रैंकफोर्ट की सन्धि से अल्सेस और लारेन जर्मनी को मिले और फ्रांस को क्षति-पूर्ति के रूप में एक भारी रक़म जर्मनी को देनी पड़ी जिसके चुकने के समय तक फ्रांस के कुछ स्थानों में जर्मनी की सेना रख दी गयी।

परिणाम—इस युद्ध से जर्मनी, इटली तथा फ्रांस में बड़ा प्रभाव पड़ा, जिससे वियाना कांग्रेस का प्रबन्ध बिलकुल पलट गया।

जर्मनी की एकता पूर्ण हुई। उसे अल्सेस-लारेन, मेज़ तथा स्ट्रेसबर्ग मिले। यह विजय जर्मनी के उत्तर तथा दक्षिण की संयुक्त शक्ति से प्राप्त हुई थी। अतः लोगों को ऐक्य के लाभ मालूम हो गये और उनमें सदा सम्मिलित रहने की इच्छा हुई। वर्षों का स्वप्न पूरा हुआ। १८ जनवरी १८७१ को वर्सेलीस के राजमहल में विलियम प्रथम जर्मनी का सम्राट् घोषित किया गया। बिस्मार्क और सेनापति मोल्टके उसके दोनों ओर खड़े थे। बन्डेसराथ तथा रीस्टाग में दक्षिण रियासतों के भी प्रतिनिधि सम्मिलित कर लिये गये। बर्लिन संयुक्त जर्मनी की राजधानी नियत हुई। कार्यकारिणी की सर्वोपरि शक्ति सम्राट् के ही हाथ में रही।

इसी युद्ध से इटली की एकता पूर्ण हुई। अब तक रोम में फ्रांस की सेना पड़ी थी। इस युद्ध में उस सेना की आवश्यकता हुई। रोम को खाली देख कर विक्टर एमेनुएल ने उस पर

अधिकार करके उसे अपनी राजधानी बनाया। पोप की राजनैतिक शक्ति समाप्त हो गयी।

इसी युद्ध के फलस्वरूप फ्रांस में फिर प्रजातन्त्र की घोषणा हुई और नेपोलियन के अन्तिम साम्राज्य का अन्त हो गया। फ्रांस का यह तृतीय प्रजातन्त्र अब तक स्थायी रहा है तथा इसने फ्रांस को शक्तिमान् भी बनायाहै।

बिस्मार्क—जर्मनी की एकता का श्रेय वास्तव में बिस्मार्क को ही है। सब इतिहासकार के मत से वह नवीन जर्मनी का विधाता था। वह भी कावूर तथा अन्य बड़े राजनीतिज्ञों और राष्ट्र-निर्माताओं में गिना जाता है। बिस्मार्क और कावूर में बहुत समानता पायी जाती है। दोनों का उद्देश अपने देश की एकता को पूर्ण करना था। दोनों का शत्रु आस्ट्रिया था तथा दोनों ने अपना उद्देश राजनीति तथा चतुरता से पूर्ण किया। परन्तु दोनों के उपायों में भेद था। कावूर उदार विचार मनुष्य तथा वैध शासन का पक्षपाती था और इंगलैण्ड को आदर्श मानता था, परन्तु बिस्मार्क अनियन्त्रित राजप्रथा का पक्षपाती था तथा सेनाप्रिय था। उसने वहाँ की पार्लियामेंट के विरोध पर कुछ भी ध्यान न देकर सैनिक शासन की स्थापना की तथा उद्देश-पूर्ति के लिये शक्ति-प्रयोग से काम लिया।

कावूर पहले इटालियन था फिर सार्डिनियन। (वह अपने प्रान्त से सम्पूर्ण देश को अधिक महत्व देता था) वह इटली की एकता के लिये सार्डिनिया को प्रधानता त्यागने को तैयार था और उसने सार्डिनिया को इटली में मिला दिया। परन्तु बिस्मार्क पहले प्रशियन था फिर जर्मन। वह प्रशा को जर्मनी में नहीं

डुबोना चाहता था किन्तु और सब रियासतों को मिलाकर प्रशा की अधीनता में जर्मनी में एकता स्थापित करना चाहता था और उसने समस्त जर्मनी को ही प्रशा में मिला लिया।

जर्मनी में एकता स्थापित करके बिस्मार्क ने उसे सुरक्षित रखने की ओर ध्यान दिया। उसे यह भय था कि अल्सेस और लारेन लेने के लिये फ्रांस फिर प्रयत्न करेगा। अतः उसने तीन सम्राटों जर्मनी, आस्ट्रिया तथा रूस का एक संघ बनाया। परन्तु यह संघ स्थायी न रहा क्योंकि बाल्कन युद्ध में आस्ट्रिया और रूस जर्मनी के विरुद्ध थे। १८७८ की बर्लिन कांग्रेस में बिस्मार्क ने आस्ट्रिया का पक्ष लिया। अतः रूस उससे क्रुद्ध हो गया। दूसरे वर्ष फ्रांस और रूस के विरुद्ध आस्ट्रिया और जर्मनी में सन्धि हो गयी। १८८२ में इटली भी इनमें सम्मिलित हो गया क्योंकि बिस्मार्क के इशारे से फ्रांस ने ट्यूनिस पर अधिकार कर लिया जिसे इटली स्वयं लेना चाहता था। इस त्रिगुट ने १९१४ के यूरोपीय महायुद्ध में महत्वपूर्ण भाग लिया।

आन्तरिक नीति में बिस्मार्क जर्मनी को समृद्ध बनाना और प्रत्येक विभाग में सम्राट् को प्रधान रखना चाहता था। उसने जर्मनी में साम्यवाद का प्रचार रोका तथा मजदूरों के हित के कानून बना कर उन्हें अपनी ओर कर लिया। वह व्यापार में संरक्षण का पक्षपाती था। अतः देश का उद्योग बढ़ा। इस भाँति बिस्मार्क ने सब भाँति जर्मनी को सुरक्षित तथा समृद्ध बनाने का प्रयत्न किया।

——*०❀०*——

नवाँ अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड

वाटरलू के प्रसिद्ध युद्ध के बाद इङ्गलैण्ड में उदार विचारों का प्रचार होता रहा। राजनीति में प्रजा-सत्ता की ओर, धर्म में सहिष्णुता की ओर, आर्थिकनीति में निर्बन्ध व्यापार की ओर तथा बाहरी नीति में शान्ति की ओर लोगों की प्रवृत्ति होती जाती थी।

फ्रान्स की क्रान्ति के बाद कुछ दिन तक यहाँ पर अनुदार दल का मन्त्रित्व रहा। उनका विचार था कि इस समय लोगों को अधिकार देने से उन्हें विद्रोह के लिये उत्तेजन मिलेगा। अतः सुधार कुछ काल तक रुके रहे किन्तु चारों ओर से उनके लिये माँग आ रही थी। लोगों के कष्ट बहुत बढ़ गये थे। मशीनों के आविष्कार के कारण बहुत से लोग बेकार हो गये थे। इङ्गलैण्ड तथा बाहरी देशों में इङ्गलैण्ड के बने माल की माँग कम हो गई थी। अतः व्यापार भी मन्दा पड़ गया था। इसके अतिरिक्त 'धान्य-विधान' के कारण—जिससे आयत अनाज पर अधिक कर लगा दिया गया था—अनाज बहुत मँहगा हो रहा था। इन कारणों से प्रजा में सर्वत्र असन्तोष फैला था।

इस समय इंगलैण्ड की पार्लमेण्ट में जनता के सच्चे प्रतिनिधि नहीं पहुँचते थे। व्यापार तथा मशीनों की वृद्धि के कारण अनेक नये नगर बस गये थे जिन्हें चुनाव का अधिकार नहीं था। दूसरी ओर बहुत से ऊजड़ ग्रामों को प्रतिनिधि भेजने का अधि-

कार था। इस कारण बहुत वाद विवाद के बाद १८३२ में पार्लमेण्ट ने 'सुधार कानून' पास किया जिससे ऊजड़ ग्रामों से मताधिकार छीन कर नये बसे हुए नगरों को दिये गये। किन्तु मजदूरों तथा किसानों को फिर भी मताधिकार न मिला। अतः असन्तोष बढ़ता रहा और विद्रोह भी हुए।

अन्त में १८६७ तथा १८८४ में और सुधार किये गये जिससे श्रमजीवियों और किसानों को भी अपने प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया। इस भांति अनेक झगड़ों और बखेड़ों के बाद वहाँ जनता की शक्ति बहुत बढ़ गयी। प्रतिनिधियों द्वारा शासन करने का अधिकार सब को मिल गया।

अब धार्मिक अत्याचारों का समय बीत चुका था परन्तु फिर भी सब धर्मवालों को समानता के अधिकार प्राप्त न थे। डिसेण्टर तथा कैथोलिक लोगों को अब तक अनेक ऊँचे पद नहीं दिये जाते थे। १८२८ तथा २९ के कानूनों से ये भेदभाव भी दूर किये गये। १८५८ में यहूदी लोगों को भी समानता के अधिकार दिये गये। अब प्रायः सब धर्म वाले बराबर हो गये।

१८१५ में 'कार्नलॉज' इसलिये बनाये गये थे जिससे देश के कृषकों को लाभ हो। परन्तु फल यह हुआ कि आयात अनाज पर कर अधिक लगने से गरीबों को वह बहुत मँहगा पड़ने लगा और उस कानून को रद्द करने के लिये आन्दोलन उठा। अन्त में १८४७ में लार्ड पील ने उसे रद्द कर दिया।

इसी समय दासों, स्त्रियों तथा बच्चों की बुरी दशा पर भी लोगों का ध्यान गया। १८३३ में दासों का व्यापार सदा के लिये बन्द कर दिया गया। कारखानों में स्त्रियों तथा बच्चों से

थोड़ी मज़दूरी देकर बहुत काम लिया जाता था। बच्चे मुश्किल से ४–६ घण्टे सो पाते थे, उनकी नैतिक अवस्था भी अच्छी नहीं थी। अतः नया 'कारखाना–कानून' बनाया गया जिसके अनुसार स्त्रियों और बच्चों के हित के नियम बनाये गये।

दण्ड-विधान भी बहुत कड़ा था। लगभग दो सौ से ऊपर अपराधों के लिये मृत्युदण्ड दिया जाता था। उसकी कठोरता भी कम की गयी। अब मृत्युदण्ड केवल मनुष्य-हत्या करने वाले को दिया जाता है और उसे भी दूर करने का प्रयत्न हो रहा है। इसके अतिरिक्त बूढ़ों को पेन्शन, जेलखानों में सुधार, अनिवार्य शिक्षा आदि के भी नियम पार्लमेण्ट द्वारा पास किये गये।

आयर्लैण्ड का प्रश्न—उन्नीसवीं शताब्दी में इङ्गलैण्ड के राजनीतिज्ञों के लिये आयर्लैण्ड की समस्या भी बड़ी विकट रही है। अंग्रेज़ों ने आयर्लैण्ड विजय से प्राप्त किया था। अतः वे वहाँ वालों के साथ 'लकड़िहारों और कहारों' का सा व्यवहार किया करते थे। उनके ऊपर ज़बरदस्ती इङ्गलैण्ड का धर्म लादा जाता था किन्तु वे अधिकांश कैथोलिक थे। धर्म के लिये उन पर कर भी लगाये जाते थे। १८२९ के कानून से वहाँ के कैथोलिकों के धार्मिक कष्ट तो दूर हो गये थे, परन्तु उनकी आर्थिक स्थिति वैसी ही थी। अंग्रेज़ों ने वहाँ की बहुत सी भूमि जब्त कर के इङ्गलैण्ड वालों को दे दी थी जिससे आयर्लैण्ड केवल हल जोतने वाले रह गये जो अंग्रेज जमींदार की ज़रा सी भी अप्रसन्नता से किसी समय अलग किये जा सकते थे। अतः आयर्लैण्डवाले दो बात चाहते थे। अपनी भूमि पर पूर्ण स्वतंत्रता तथा डबलिन में उन्हीं की एक स्वतंत्र पार्लमेण्ट। इंगलैण्ड और आयर्लैण्ड की एकता के

विरुद्ध घोर आन्दोलन आरम्भ हुआ, और कहीं २ विद्रोह भी हुए, गुप्त समितियों ने क्रांतिकारी विचारों का प्रचार किया। यह देख इङ्गलैण्ड के प्रधान मंत्री ग्लैडस्टन ने ऐसे नियम बना दिये कि यदि कोई जमींदार अपने किसान को बेदखल करेगा तो उसे हरजाना देना पड़ेगा। फिर आयलैंड के धर्म को भी स्वतंत्र कर दिया गया; इससे कुछ काल के लिये आन्दोलन दब गया।

कुछ दिन बाद वहाँ 'होमरूल' का आन्दोलन आरम्भ हो गया। ग्लैडस्टन ने उसकी सहायता करनी चाही; परन्तु अंग्रेज़ों के विरोध के कारण वह कुछ न कर सका। पार्लमेण्ट ने दो बार उसके बनाये 'होमरूल-बिल' को रद्द कर दिया। अन्त में १९१२ में आस्किथ ने 'होमरूल-एक्ट' बनाया जिसे हाउस ऑफ़ कामन्स ने तीन बार पास कर दिया। इतने में महायुद्ध आरम्भ हो गया।

इङ्गलैण्ड का विस्तार—उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप के प्रायः सभी देशों ने अपना विस्तार बढ़ाया। इंगलैण्ड इस संघर्ष में सब से आगे रहा। अठारहवीं शताब्दी में ही उसे जिब्राल्टर, मिनार्का, न्यूफाउन्डलैण्ड, नोवा स्काटिया आदि यूट्रेक्ट की सन्धि से तथा मद्रास, कनाडा आदि पेरिस की सन्धि (१७६३) से मिल चुके थे तथा वह इसी समय इस दौड़ में फ्रान्स को हरा चुका था।

१८१५ के बाद इंगलैण्ड की बड़े वेग से वृद्धि हुई। नेपोलियन के युद्धों के समय उसने हालैण्डवालों से केप कालोनी (दक्षिण अफ्रीका में) ले लिया था जिससे अफ़रीका में उनके अधिकार का आरम्भ हुआ।

प्रधान मंत्री डिज़राएली के समय में इंगलैण्ड ने स्वेज़ नहर

के बहुत से शेयर खरीदे थे। उस समय मिश्र का सुल्तान इस्मायल पाशा था। वह कुछ अपव्ययी कहा जाता है जिससे उसका राज्य दिवालिया हो गया। स्वेज़ नहर के बनवाने में फ्रान्स और इंगलैण्ड का बहुत सा रुपया लगा था। उसकी रक्षा के बहाने दोनों ने १८७९ में मिश्र पर अधिकार कर लिया। चार वर्ष बाद फ्रान्स अलग हो गया और मिश्र पर अंग्रेज़ों का प्रभुत्व रहा।

अठारहवीं शताब्दी में दक्षिणी गोलार्ध में एक बड़े देश का पता लगा। कप्तान कुक ने १७६८ में उसे ढूँढ़ कर इंगलैण्ड के राजा के नाम पर धीरे २ अपना अधिकार कर लिया। यह देश आस्ट्रेलिया कहाया।

बहुत समय तक बड़े २ अपराधी वहाँ भेज दिये जाते थे परन्तु कुछ दिन बाद पता लगा कि वहाँ की भूमि पर खेती खूब हो सकती है और भेड़ें चराकर ऊन बहुत पैदा की जा सकती है। अतः साहसी लोगों ने उसके भीतरी भाग को खोजना आरम्भ किया। कई मण्डलियाँ उन गहन अगम्य वनों में सदा के लिये लीन हो गयीं। कई अनेक कष्ट झेलती हुई बहुत वर्षों बाद लौटीं परन्तु वे लोग दृढ़ रहे और धीरे २ उन्होंने सारे महाद्वीप का पता लगा लिया। उन्नीसवीं शताब्दी में वहाँ कुछ सोने की खानों का पता लगा। आस्ट्रेलिया के कुछ मनुष्य अमेरिका के सुवर्ण-क्षेत्रों में काम कर रहे थे। वहाँ की मिट्टी देखकर एक मजदूर ने सोचा कि ऐसी मिट्टी तो हमारी भूमि आस्ट्रेलिया में भी है। क्या वहाँ भी सोने की खाने हैं? ऐसा विचार कर वह अपने देश को वापस आया और उसने सोने की खानों का पता

लगा लिया। इस समाचार को सुनकर चारों ओर से बहुत से लोग वहाँ पहुँचने लगे और इसभाँति वहाँ छः उपनिवेश बस गये—न्यूसाउथ वेल्स, क्वीन्सलैण्ड, विक्टोरिया, साउथ आस्ट्रेलिया, वेस्ट आस्ट्रेलिया तथा तस्मानिया। धीरे २ इन प्रान्तों को मिलाकर आस्ट्रेलिया राज्य का संगठन किया गया और १९०० में उसे आन्तरिक स्वराज्य दे दिया गया।

१८३९ में न्यूजीलैण्ड द्वीप पर अंग्रेजों ने अधिकार किया तथा १८५४ में उसे भी स्थानीय स्वराज्य मिल गया। इस भाँति कनाड़ा, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैण्ड में ही इंगलैण्ड की पार्लमेन्ट ने आन्तरिक स्वराज्य स्थापित कर दिया है परन्तु भारत को यह अधिकार अभी तक नहीं मिला है! कदाचित् इसका कारण यह हो कि कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि में अधिक संख्या यूरोप तथा इंगलैण्ड से गये हुए गोरे लोगों की है। परन्तु भारतवर्ष तो काले आदमियों की ही प्रधान वस्ती है!

एशिया महाद्वीप में अंग्रेजों के अधिकार में सब से बड़ा देश भारत है। १८५८ में यह ईस्ट इंडिया कम्पनी के हाथ से निकल कर इंगलैण्ड की रानी विक्टोरिया के हाथ में आया और अब तक उसी के वंश के राजा के आधीन है। स्वराज्य-प्राप्ति के लिये वहुत आन्दोलन करने पर १९०९ तथा १९१९ में यहाँ पर कुछ सुधार किये गये।

साम्राज्य-संघ का विचार—ब्रिटिश साम्राज्य का विस्तार वहुत अधिक है तथा वह सब दुनिया में फैला हुआ है। उस में भिन्न २ जातियों का निवास है तथा उनका शासन भी भिन्न २ प्रकार से होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त समय से इस

वात पर विचार हो रहा है कि क्या कोई ऐसा उपाय है जिससे साम्राज्य के भिन्न २ अंगों को मिलाकर ऐक्य स्थापित किया जा सके। राजनीतिज्ञ लोग कोई ऐसी शासनविधि ढूँढ़ना चाहते हैं जिससे साम्राज्य के भिन्न २ देश एक दूसरे से और अधिक सम्बद्ध हो जाँय और अवसर पड़ने पर सब मिलकर एक राज्य के समान कार्य करें। गत महायुद्ध के अवसर पर इन देशों की इंगलैएड के प्रति राजभक्ति का पूर्ण प्रमाण मिल चुका है। परन्तु भारतवासियों की दृष्टि से तो यह केवल विचार ही विचार है क्योंकि उनके साथ व्यवहार में युद्ध के वाद भी कुछ परिवर्तन नहीं हुआ है। भारतवासी अंग्रेजों की दृष्टि में अव भी वही काले आदमी हैं। यहाँ पर शासन-सुधार करने का भी अधिकांश अंग्रेज विरोध कर रहे हैं और उपनिवेशों में भी अव तक उनके प्रति वही अन्यायपूर्ण व्यवहार चला आ रहा है, यद्यपि इसके लिये अनेक प्रयत्न किये जा रहे हैं।

आफ्रीका में इंगलैएड आदि का विस्तार हम आगे लिखेंगे।

दसवाँ अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी में रूस

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में रूस की दशा वहुत विगड़ी हुई थी। वहाँ सर्फ-प्रथा का ज़ोर था, जिससे वहाँ के पाँच करोड़ किसानों की दशा करुणाजनक थी। इनमें से आधे के लगभग सीधे राजा के अधीन थे तथा शेष अन्य रईसों के, जो वहुत तङ्ग किये जाते थे। उन्हें जायदाद खरीदने अथवा वेचने का अधिकार

न था। उनसे भारी २ कर तथा रिश्वतें ली जाती थीं और जबर-दस्ती उनसे मेहनत के काम भी कराये जाते थे। १८२६ में एक देशभक्त ने कहा था कि अमेरिका के नीग्रो लोगों की दशा भी रूस के सर्फों से अच्छी है। सर्फों के मालिक जो प्रायः दिवालिया होते थे अपने अधीन किसानों को चौपायों की भाँति बेच देते थे। एक ही कुटुम्ब के कई लोगों को भिन्न २ खरीदारों के हाथ बेंच कर अलग २ कर देते थे। कानून से रईसों तथा मालिकों को अपने अधीन किसानों को मारने, पीटने, बेंचने अथवा साइबेरिया में भेज देने का पूरा अधिकार था। वे तहखानों में कैद करके रखे जाते थे तथा जरा से अपराध पर मालिक के हुक्म से बेंत मार २ कर मार डाले जाते थे। इस पर रानी कैथराइन द्वितीय ने आज्ञा दी कि जो किसान अपने दुःखों की शिकायत करे उसे खूब पीटा जाय या आजन्म के लिये खानों में काम करने को भेज दिया जाय। इस भाँति वहाँ के किसानों की दशा बहुत खराब थी।

रूस की राजव्यवस्था भी बहुत बुरी थी। हर जगह अन्याय तथा बेईमानी का दौरदौरा था। राज्य के बड़े २ पद रुपया देनेवालों को मिलते थे। रिश्वत का बाजार बहुत गर्म था क्योंकि बड़े २ पदों का वेतन बहुत कम दिया जाता था। प्रान्तों के सैनिक शासक प्रजा को लूट कर अपनी जेबें खूब भरते थे तथा नीचे के अफ़सर उनका अनुकरण करते थे। नीची अदालत से लेकर सर्वोच्च न्यायालय तक न्याय पाना असम्भव था क्योंकि सब न्यायाधीश बड़े लोगों तथा अफ़सरों का ही पक्ष लेते थे। शिकायत करना भी व्यर्थ था।

रूस की ऐसी दशा होते हुए भी क्रान्तियाँ फ्रांस से आरम्भ क्यों हुईं ? इसका कारण यह है कि फ्रांस में मध्य श्रेणी के लोगों की संख्या अधिक थी, जिन्हें वाल्टेयर, रूसो आदि ने उनकी दशा का ज्ञान करा के जगा दिया था; परन्तु रूस में मध्यश्रेणी का सर्वथा अभाव था। किसान लोग इतने दबे हुए तथा अशिक्षित थे कि उन्हें सरकार का विरोध करने की हिम्मत ही न होती थी। वे चुपचाप अपने दुःखों को सह लेते थे; परन्तु कुछ काल पीछे वहाँ के सरदार लोग भी सरकार के विरुद्ध हो गये क्योंकि वे भी राज्य के अधिकारियों द्वारा बहुत तङ्ग किये जाते थे। रूस के सैनिक अफसर भी जो पश्चिमी यूरोप में युद्ध करने गये थे, उन्नत विचारों को लेकर लौटे। धीरे धीरे वैध शासन के लिये आन्दोलन बढ़ चला तथा गुप्त समितियाँ बनने लगीं। पेट्रोग्राड की सेना के भी कुछ लोग इनमें सम्मिलित हो गये। एक दल जिसमें दक्षिण की सेना के बहुत से लोग थे, प्रजातंत्र के पक्ष में था। और भी कई दल थे; परन्तु न तो इनमें शक्ति थी, न इनके विचारों तथा साधनों में प्रौढ़ता थी। अतः असफलता निश्चित थी।

१८२५ में अलक्जेण्डर प्रथम की मृत्यु हुई और उसका छोटा भाई निकोलस गद्दी पर बैठा। इसी बीच में गुप्त समितियों ने बहुत जोर पकड़ लिया और २६ दिसम्बर को पेट्रोग्राड में विद्रोह आरम्भ हो गया। मास्को की सेना ने अफसरों के उसकाने से नये सम्राट् के प्रति राजभक्ति की शपथ खाने से इनकार कर दिया, क्योंकि निकोलस के बड़े भाई कान्स्टेन्टाइन को गद्दी छोड़ने को तैयार करके निकोलस को सम्राट् बनाया गया था; परन्तु यह केवल एक सेना का विद्रोह था। अतः दब गया। इसी

भाँति एक और विद्रोह दवा दिया गया। विद्रोहियों की कड़ी जाँच हुई जिसमें कई भारी २ विद्वान्, दार्शनिक तथा कलाविद् साइबेरिया भेज दिये गये। वहुतों को प्राणदण्ड हुआ, जिनमें से एक ने फाँसी पर चढ़ते समय कहा—'मैं यह तो पहले ही जानता था कि हमारे आन्दोलन को सफलता का अवसर वहुत कम है, मैं यह भी जानता था कि इसके लिये मुझे अपने जीवन का वलिदान करना पड़ेगा......फसल काटने का समय तो अब कुछ दिन वाद आएगा!"

इस भाँति दिसम्बर में आन्दोलन का अन्त हो गया। नेताओं की अनुभवहीनता के कारण अनेक वर्षों का कार्य मिट्टी में मिल गया; परन्तु शहीदों के रक्त से स्वतंत्रतारूपी पौदे का सिंचन होता है। इस आन्दोलन ने यह प्रकट कर दिया कि अब रूसी जनता अपनी हीन दशा को जानने लगी है।

निकोलस प्रथम—निरंकुशता के अवतार निकोलस के गद्दी पर बैठने से रूस में नये युग का आरम्भ हुआ। उसने तीस वर्ष तक रूस में कठोरता तथा निर्दयतापूर्वक शासन किया। जिस समय शेष यूरोप में स्वतंत्रता के तथा उसके विरुद्ध विचारों में संघर्ष हो रहा था, उस समय रूस ने निरंकुश शासन का उदाहरण सबके सामने रखा। १८३० में उसने पोलैण्ड का विद्रोह वड़ी क्रूरता से दवाया और पोलैण्ड का वैध-शासन तोड़ कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। १८४८ में उसने आस्ट्रिया की सहायता करके हंगरी का विद्रोह दवाया। खुफिया पुलिस का प्रधान किसी भी मनुष्य को कैद अथवा देश से वाहर कर सकता था। इससे विचार-स्वातंत्र्य के सब मार्ग वन्द हो गये।

निकोलस स्वतंत्रता के विचारों का कट्टर शत्रु था। अपने देश को यूरोप के प्रभाव से अलग रखने का उसने पूरा प्रबन्ध किया। बाहर का कोई पत्र अथवा ग्रन्थ बिना पूरी जाँच के रूस में नहीं आ सकता था, न रूसी विद्यार्थी बाहरी देशों में पढ़ने जा सकते थे। रूस के विश्वविद्यालय में से दर्शन-शास्त्र निकाल दिया गया तथा बाहरी व्यापार भी कम किया गया।

तीस वर्ष तक इस प्रकार दबे रहकर पठित समाज ने फिर निरंकुशता के विरुद्ध आन्दोलन किया। प्रेस के नियंत्रण के कारण केवल छपे हुए पत्र तथा ग्रन्थ रोके जा सकते थे। अतः हस्तलिखित ग्रन्थ तथा परचे इधर उधर खूब फैलाए जाने लगे। ज़ार की निरंकुशता की हंसी उड़ाई जाने लगी—'परमात्मा ने मुझे रूस के ऊपर नियत किया है, तुम सब को मेरे सामने झुकना चाहिये, क्योंकि मेरा सिंहासन ही ईश्वर की वेदी है। मुझे किसी बात में सलाह की आवश्यकता नहीं है क्योंकि ईश्वर मेरे अन्दर प्रेरणा करता है। ऐ रूसियो! मेरे दास होने में तुम अपना गौरव समझो।' इस भाँति प्रचार करके देशभक्तों ने रूसियों को जगाया।

क्रीमिया का युद्ध

निकोलस तुर्की के बहुत विरुद्ध था। जब यूनान ने तुर्की से विद्रोह किया तो उसने यूनानियों की सहायता की और तुर्की को डराकर एड्रियानोपल स्थान में सन्धि करायी। उसी ने तुर्कों को 'बीमार मनुष्य' बतलाया था और वह तुर्की पर अपना अधिकार करना चाहता था। इसी कारण क्रीमिया का युद्ध हुआ जिसमें रूस की शक्ति तथा कीर्ति नष्ट हो गयी।

संधि के बाद निकोलस तुर्की में फिर घुसा। इंगलैण्ड को

चुप रखने के लिये उसे मिश्र तथा क्रीट द्वीप देने का वचन दिया। पहले उसने घोषित किया कि तुर्की राज्य में यूनानी गिर्जे के धर्म के जो ईसाई हैं उनका संरक्षक स्वयं वही है। तुर्की के सुल्तान ने इस घोषणा को अस्वीकार किया; क्योंकि इससे ज़ार को तुर्की के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार हो जाता। इस पर निकोलस ने बढ़कर मोल्डेविया प्रान्त पर अधिकार कर लिया; परन्तु इस कार्य से समस्त यूरोप उसके विरुद्ध हो गया। फ्रांस और इङ्गलैण्ड ने मिलकर उससे मोल्डेविया खाली करने को कहा, जब निकोलस ने इस पर कुछ ध्यान न दिया तो १८५४ में दोनों ने युद्ध की घोषणा कर दी। कुछ दिन बाद सार्डिनिया का राजा भी कावूर की सलाह से उनसे मिल गया।

रूसी लोग शीघ्र ही डान्यूब नदी के पास के प्रान्तों से निकाल दिये गये और अल्मा, इंकरमैन आदि कई लड़ाइयों में हराये गये। इनमें सेबास्टपूल स्थान का घेरा सब से प्रसिद्ध है। यहाँ पर रूसी सेना ने पहले से मोर्चा जमा रक्खा था। फ्रांसीसी और अंग्रेज़ी सेना ने वहाँ घेरा डाला। रूसी सिपाही कई मास तक उस स्थल की वीरतापूर्वक रक्षा करते रहे परन्तु अन्त में थक कर उन्हें हार माननी पड़ी। सहस्रों मनुष्य इन युद्धों में घायल हुए जिनका इलाज करने को इंगलैण्ड से बहुत से लोग गये जिनमें से कुमारी फ्लोरेन्स नाइटिंगेल ने घायलों की सेवा सुश्रूषा में बहुत नाम कमाया। सेबास्टपूल के पतन से युद्ध का अन्त होगया। इसी समय ज़ार निकोलस भी मर गया और अलेक्जंडर द्वितीय गद्दी पर बैठा। उसने १८५६ में पेरिस की सन्धि कर ली। रूस को मोल्डेविया और वेलेशिया के ऊपर से अपना संरक्षण उठाना

पड़ा और ये रियासतें तुर्की की संरक्षता में स्वतंत्र कर दी गयीं। तुर्की यूरोप का एक अंग माना गया और अन्य शक्तियों ने उसे अखंडित रखने का वचन दिया। इसके बदले में सुल्तान ने अपनी ईसाई प्रजा को बहुत से अधिकार दिये।

इस युद्ध से रूस की इच्छाओं को भारी धक्का लगा। रूस और तुर्की के बीच में एक स्वतंत्र रियासत रूमानिया—जो १८५९ में मोल्डेविया और वेलेशिया को मिलाकर बनायी गयी थी—स्थापित हो गयी जिससे रूस तुर्की के ऊपर अपना पंजा नहीं गड़ा सकता था।

इंगलैण्ड इस युद्ध में इस कारण सम्मिलित हुआ कि उसे भय था कि रूस अपनी शक्ति बढ़ाकर, भारत का व्यापारिक मार्ग रोक लेगा। फ्रांस का नेपोलियन तृतीय अपनी प्रजा का ध्यान बँटाने के लिये तथा इटली, फ्रांस और इंगलैण्ड की सहानुभूति प्राप्त करने के लिये सम्मिलित हुआ।

अलेक्जेंडर द्वितीय—(१८५५-८१) इसके गद्दी पर बैठते ही रूस में सुधार आरम्भ हो गये। वह दयावान तथा उदार विचारों का आदमी था जिससे लोगों को बड़ी आशाएँ हुईं। विश्वविद्यालयों, विदेशी व्यापार तथा पर्यटन आदि में उसके पिता ने जो रुकावटें डाली थीं, उसने उन सबको दूर कर दिया और निर्वासित मनुष्यों को देश में आने की आज्ञा दे दी तथा प्रेस को स्वतंत्रता दे दी। इन सब से प्रशंसनीय तथा प्रसिद्ध कार्य यह था कि उसने १८५८ में अपने अधीन सब सर्फ़ों (दास-रूपी किसानों) को स्वतंत्रता दे दी और तीन वर्ष बाद राज्य भर से सर्फ़-प्रथा ही उठा दी। बहुत से विद्वानों का विचार

था कि राष्ट्र की उन्नति के लिये इन गरीब किसानों को सब से पहले मुक्त करना चाहिये। इसी विचार से अलेक्जेंडर ने १८६१ में चार करोड़ किसानों—अथवा रूस की आधी जनसंख्या—को एक क्षण में स्वतंत्र कर दिया। भूमि का फिर से बँटवारा हुआ और गाँव २ में ग्राम-संस्थाएँ स्थापित कर दी गयीं। इन्हें क्षतिपूर्ति—स्वरूप रईसों और जमींदारों को कुछ वार्षिक रुपया देना पड़ता था। इतना होने पर भी किसानों की दशा पूर्ण सन्तोषजनक न हुई। मालिकों की नीच सेवा से वे मुक्त हो गये, परन्तु अपनी गुज़ार के लिये उन्हें धन कमाने की चिन्ता हुई। उन पर कुछ नये कर लगाए गये। वे अपनी भूमि के स्थायी अधिकारी फिर भी नहीं बनाये गये। वे केवल जोता थे। इस भाँति उनकी दशा कुछ सुधरी और कुछ बिगड़ी भी।

अलेक्जेंडर ने न्यायालयों तथा शासन-प्रबन्ध में भी सुधार किया। अदालतों में जूरी-प्रथा कायम की गयी। अपीलें सुनने के लिये जज लोग मासिक दौरा करते थे। उनसे ऊपर की अपीलें शिक्षित न्यायाधीशों की एक सभा में होती थीं जिन्हें राजा स्वयं नियत करता था। नगरों तथा ग्रामों की कुछ संस्थाओं को अपने यहाँ की सफाई रखने, सड़कें आदि बनाने, आरम्भिक शिक्षा का प्रबन्ध करने का अधिकार दिया गया।

परन्तु इन सुधारों के दस ही वर्ष बाद फिर समय बदला। रूस के लोगों को अब स्वतंत्रता का स्वाद मिल गया था। अब वे वैध—शासन चाहने लगे, परन्तु ज़ार ने शासनसुधार में आगे क़दम बढ़ाने से साफ़ इनकार कर दिया। इससे शिक्षित समाज में बड़ी निराशा हुई। वे ज़ार के पुराने उपकार भूलकर बल-

प्रयोग द्वारा सुधार कराने के लिये तैयार हुए। इस भाँति 'निहिलिस्ट' आन्दोलन का जन्म हुआ जिसकी अलेक्जेंडर के राज्य के आरम्भ में स्वप्न में भी संभावना न थी। निहिलिस्ट दल के लोग किसी अफसर के आगे सिर न झुकाते थे। व्यक्तिगत स्वतंत्रता के पक्षपाती थे तथा समाज, कुटुम्ब अथवा धर्म द्वारा किसी व्यक्ति के ऊपर डाले हुए दबाव को स्वीकार न करते थे। वे जनता को शिक्षित बनाना चाहते थे, जिस से वह सरकार की बुराइयों को जान सके। स्त्रियों को शिक्षा तथा रुचि के अनुसार उद्योग करने की स्वतंत्रता दिलाना चाहते थे। पहले यह एक दार्शनिक तथा साहित्यिक आन्दोलन था, परन्तु दस वर्ष बाद १८७० से यह क्रान्तिकारी सैनिक आन्दोलन हो गया। १८६६ में इस दल के कुछ लोग जार अलेक्जेंडर को मार डालने का प्रयत्न करते हुए पाये गये जिससे सरकार ने उन्हें क्रूरतापूर्वक दबाना चाहा। इसी कारण उनका शान्त तथा सविनय आन्दोलन हिंसक रूप में बदल गया। दमन प्रायः किसी आन्दोलन को दबाने के उद्देश से ही किया जाता है, किन्तु वास्तव में वह उसे और अधिक उत्तेजना देता है।

जूरिच नगर में एक साम्यवादी दल भी उत्पन्न हो गया जिसमें समस्त रूस से आकर अनेक स्त्री पुरुष भरती होने लगे। १८७३ में सरकार ने उन्हें जूरिच स्थान खाली करने की आज्ञा दी। इस पर उन लोगों ने अपने २ गाँवों में जाकर साम्यवाद तथा अराजकता का खूब प्रचार किया। अराजक लोग एकदम क्रान्ति करा देना चाहते थे। १८७४ ई० में सरकार ने ढूँढ़ २ कर ऐसे डेढ़ लाख अपराधियों को साइबेरिया में निर्वासित किया।

इतने लोगों को देश से निकाल कर ज़ार ने सोचा कि अब विद्रोह बिलकुल दब जायगा; परन्तु अब इस आन्दोलन ने तीसरा रूप धारण किया। विद्रोही दल ने अब खुले तौर से शस्त्र धारण कर लिये और तीन वर्ष (१८७६-७८) में कई स्थानों पर छोटे २ झगड़े हुए; परन्तु जिस दल की ९/१० संख्या देशनिर्वासित कर दी गयी हो, उसका सफल होना कठिन था। सेना की सहायता से वे दबा दिये गये और ज़रा २ से अपराधों के लिये उन्हें एक विशेष अदालत द्वारा कठोर दण्ड दिये गये। विश्वविद्यालयों से अनेक विद्यार्थी निकाल दिये गये। मिल, स्पेन्सर आदि की पुस्तकें ज़ब्त कर ली गयीं। ग्राम्य तथा नगर-संस्थाओं की विशेष निगरानी की जाने लगी। इस भांति रूस की भी वही दशा हो गयी, जो राजक्रान्ति (१७८९) से पहले फ्रांस की थी।

अब विद्रोहियों ने जनता की सहायता अथवा सहानुभूति का विचार न करके भयङ्कर उपायका अवलम्बन किया। शस्त्रास्त्रों का प्रयोग अब वे न्याय्य समझने लगे। इससे उन्होंने सरकार को डराना चाहा। इस कार्य को वेराजेसूलिक नाम की एक स्त्री ने आरम्भ किया। एक सेनापनि ने न्याय-विरुद्ध एक राजनैतिक अपराधी को बेंतों से पिटवाया था। इसका बदला लेने के लिये उस स्त्री ने सेनापति को गोली से मार डाला। जूरी ने स्त्री को निर्दोष बताकर छोड़ दिया; परन्तु पुलिस ने उसे फिर गिरफ्तार कर लिया। इस पर विद्रोही-समूह ने उसे छुड़ा कर देश से बाहर भेज दिया। इस घटना से समस्त यूरोप में हलचल मच गयी और विद्रोह बहुत बढ़ गया। यहाँ तक कि १८८१ में स्वयं सम्राट्

अलेक्जेंडर द्वितीय एक बम के गोले से मारा गया। विद्रोहियों ने घोषणा की कि यदि सरकार सर्वसम्मति द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की सलाह शासनकार्य में ले तथा सभा, प्रेस, भाषण आदि की स्वतंत्रता दे, तो वे अपना आन्दोलन बन्द कर दें।

अलेक्जेंडर तृतीय (१८८१—९४)

यह निरंकुशता का पूर्ण पक्षपाती था। उसने अपने पितामह निकोलस के समय की बहुत सी प्रथाओं को फिर से प्रचलित किया। पश्चिमी यूरोप की पार्लियामेण्ट तथा प्रजा-सत्ता को उसने निंद्य बताया। उसने प्रेस की स्वतंत्रता हरण कर ली तथा कई पत्रों का प्रकाशन बन्द कर दिया। स्कूलों से बहुत से लोग निकाल दिये गये तथा सभा आदि करने की भी मनाही कर दी गई।

अलेक्जंडर द्वितीय ने सर्फों (किसानों) को मुक्त कर दिया था; परन्तु इसने उन्हें फिर दासता के बन्धन में जकड़ना चाहा। उसने लोगों के द्वारा चुने हुए मजिस्ट्रेटों के स्थान पर नये कप्तान नियत किये, जिन्हें अपने इलाक़े के किसानों की जायदाद छीनने तथा नगर की सफ़ाई आदि के सब अधिकार थे। वे बिना जांच किये किसी भी किसान को क़ैद कर सकते थे। ये अपने अधिकारों का दुरुपयोग भी बहुत करते थे। अतः ये किसानों द्वारा घृणा की दृष्टि से देखे जाते थे। १८९२ में जब रूस में अकाल पड़ा, तो अनेक स्थानों पर इन कप्तानों ने भूखों मरते हुए किसानों के पास रोटी तक न पहुँचने दी; क्योंकि वे चाहते थे कि किसान लोग थोड़ी मजदूरी लेकर बहुत काम करें। इसके समय में रेल, तार आदि की उन्नति हुई।

निकोलस द्वितीय—(१८९४–१९१७) इसने अपने पिता

की निरंकुश नीति को और भी आगे बढ़ाया। यह प्रजा, मंत्रियों तथा सरदारों से मिलना भी न चाहता था। प्रजा के शासन-कार्य में भाग लेने की इच्छा को उसने 'मूर्खता का स्वप्न' बताया और सुधार न करने की घोषणा कर दी। इससे शिक्षित समाज उससे रुष्ट हो गया और अन्त में रूस में पार्लियामेंण्ट बनी।

ज़ार की निरंकुशता के विरुद्ध आन्दोलन में अब तक ग्रामीण जनता अधिक न थी; परन्तु अब दशा बदल रही थी। अब रूस में बहुत से कारखाने बन गये थे, जिनके द्वारा किसानों में जागृति उत्पन्न हुई थी। व्यापार तथा कारखानों की वृद्धि से रूस में पूँजी-पतियों का भी एक समाज स्थापित हो गया, और यहाँ श्रम-जीवियों तथा पूँजी-पतियों में झगड़ा भी आरंभ हो गया।

इस औद्योगिक क्रान्ति से रूस के सुधारकों का दृष्टिकोण भी बदल गया। गाँवों के किसान जाग गये थे। अतः अब उन्होंने कारखानों में सुधार की ओर ध्यान दिया और ये लोग अब 'सामाजिक प्रजासत्तावादी' कहलाने लगे।

उधर ज़ार स्वतंत्रता के विचारों के उठते ही, दबाने में लगा था। बिना किसी अपराध या न्याय के किसी मनुष्य को गिरफ़्तार कर लेना, दण्ड देना अथवा देश से निकाल देना साधारण बात थी।

१८९९ में निकोलस ने फिनलैण्ड के पुराने नियम तोड़ कर उसे भी अपनी निरंकुशता के अधीन कर लिया। लोग बहुत क्रुद्ध हुए, पर चुपचाप अवसर देखते रहे। यह अवसर भी शीघ्र ही मिला। १९०४ के युद्ध में जापान से रूस हार गया। इससे निरंकुश शासन की बड़ी अपकीर्ति तथा निन्दा हुई और लोग वैध-शासन के लिये शोर मचाने लगे। हार कर ज़ार ने इन माँगों

को स्वीकार कर लिया और १९०५ में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियों की एक सभा बुलाई गयी, जिसने स्वतंत्रता के संग्राम को जारी रखा ।

ग्यारहवाँ अध्याय

फ्रांस में तीसरा प्रजातन्त्र

यूरोप के इतिहास में सन् १८७० एक प्रसिद्ध तथा महत्व-पूर्ण वर्ष है । इस वर्ष जर्मन साम्राज्य की स्थापना हुई, आस्ट्रिया हंगरी में द्वैध-शासन-प्रणाली आरम्भ हुई, इटली राज्य तथा फ्रांस प्रजातन्त्र की स्थापना हुई तथा इसके बाद बहुत वर्षों तक यूरोप में कोई प्रधान घटना नहीं हुई ।

नेपोलियन तृतीय के क़ैद होते ही पेरिस में प्रजातंत्र की घोषणा करके एक अस्थायी सरकार नियत कर दी गयी । उसने जर्मनी को फ्रांस की एक इञ्च भूमि भी देने से इनकार किया जिसका तात्पर्य यह था कि वे युद्ध जारी रखेंगे । इनका नेता गेम्बेटा नामक एक वकील था । जर्मन लोग बढ़ते आये और उन्होंने पेरिस पर भी घेरा डाल दिया । जब घिरे हुए लोग खाद्य-सामग्री के अभाव से भूखों मरने लगे, जब कुत्ता, बिल्ली, चूहा आदि कुछ भी खाने को न रहा, तो उन्होंने एक वीरता की लड़ाई लड़ कर आत्मसमर्पण कर दिया और वर्सेली की सन्धि हो गयी ।

इस समय देश की आन्तरिक स्थिति को ठीक करके वहाँ शान्ति स्थापित करना थी । अतः अधिकांश लोग युद्ध के विरुद्ध थे ।

अतः १८७१ के चुनाव में शांति-प्रिय लोगों की विजय हुई और गेम्बेटा-जो युद्ध के पक्ष में था—हार गया। इनमें बहुत से लोग फ्रांस में फिर राजप्रथा चाहते थे परन्तु उनमें कई दल थे। कुछ पुराने बोर्बन वंश के तथा कुछ आरलीन्स वंश के पक्षपाती थे तथा कुछ नेपोलियन वंश के भी तरफ़दार थे। इस सभा ने जर्मनी से सन्धि कर ली।

फ्रांस के इतिहास में पेरिस का स्थान बड़े महत्व का रहा है। समस्त फ्रांस उसी के पीछे २ चलता रहा है। समस्त फ्रांस उसका नेतृत्व तथा आश्रय ताकता रहा है। जिसने पेरिस पर अधिकार कर लिया वह फ्रांस का राजा हो गया। परन्तु १८७० के बाद यह अवस्था बदल गयी। राष्ट्रीय-सभा ने यह बात प्रगट कर दी कि अब फ्रांस एक नगर के आसरे न रहेगा। अब वहाँ राष्ट्रीय-सभा प्रधान थी। उसने थियर्स को कार्य-कारिणी सभा का प्रधान चुना और उसे बिस्मार्क से संधि करने का अधिकार दे दिया। थियर्स सदा से युद्ध के विरुद्ध होने से इस समय सर्वप्रिय हो गया था।

बिस्मार्क ने बड़ी कठिन शर्तें पेश कीं। फ्रांस क्षतिपूर्ति के रूप में जर्मनी को पाँच अरब फ्रांक दे जिसकी मीयाद तीन वर्ष थी और तब तक फ्रांस में कुछ जर्मन सेना रहे जिसका व्यय फ्रांस दे। अल्सेस और लारेन का कुछ भाग जर्मनी ने माँगा। फ्रांस की सभा ने प्रायः सर्वसम्मति से १० मई १८७१ को फ्रेंक-फोर्ट के सन्धिपत्र पर हस्ताक्षर कर दिये।

शीघ्र ही राष्ट्रीय-सभा तथा पेरिस के लोगों में वैमनस्य हो गया। पेरिस के लोगों को भय था कि राष्ट्रीय सभा अवसर

पाकर राजतन्त्र घोषित कर देगी क्योंकि उसमें अधिक संख्या राजतन्त्र के पक्षपातियों ही की थी। मार्च १८७१ में राष्ट्रीय सभा ने पेरिस के लोगों से दूर रहने के लिये वर्सेली को—जो पेरिस का मुक़ाबले में बहुत छोटा तथा जीवनहीन नगर था—अपनी राजधानी बनाया। इससे जमींदारों, व्यापारियों तथा मजदूरों को बहुत हानि हुई और पेरिस के लोगों का सन्देह बढ़ा।

फिर सभा ने राष्ट्रीय-रक्षक दल को तोड़ दिया और थोड़े से अत्यन्त ग़रीबों को छोड़ कर सब की तनख्वाह बन्द कर दी। अतः सब के आर्थिक कष्ट बहुत बढ़ गये। इस दल में अनेक योग्य व्यक्ति थे। अतः इन्होंने क्रुद्ध होकर अपना एक स्वतन्त्र कम्यून बनाना निश्चित किया।

उसने साठ मेम्बरों की एक सभा बनायी जिसका कार्य प्रजातंत्र के विरुद्ध राष्ट्रीय-सभा के कार्यों को रोकना था। फिर उसने तोपें भी इकट्ठी कीं। राष्ट्रीय सभा ने उनपर अधिकार करना चाहा, किन्तु वह असफल हुई। इससे पेरिस में सनासनी फैल गयी और दो सरकारी सैनिक अफ़सर मारे गये। इस पर थियर्स ने पेरिस से सेना हटा ली।

अब पेरिस कम्यून ने अपना नया संगठन किया। नब्बे मेम्बरों की एक सभा बनी और प्रत्येक महकमे के लिये एक एक मंत्री नियत किया गया। उन्होंने अपना झण्डा लाल रँगवाया जो साम्यवाद का चिह्न है। वे समस्त फ्रांस में वहाँ के प्रत्येक नगर तथा गाँव में स्वतंत्र प्रजातंत्र स्थापित करना चाहते थे। वे कहते थे कि प्रत्येक नगर की कम्यून को कर आदि लगाने, न्याय, पुलिस, शिक्षा आदि का प्रबन्ध करने, सार्वजनिक कार्य-

कर्त्ताओं को चुनने तथा हटाने और राष्ट्रीय रक्षक दल आदि का प्रबन्ध करने का पूरा अधिकार है।

अब इन दोनों दलों में—राष्ट्रीय सभा तथा पेरिस कम्यून में—खूब झगड़े आरंभ हो गये। दोनों ओर की सेनाएँ लड़ने लगीं। यह थियर्स को बहुत बुरा लगा। घरू युद्ध से फ्रांस की स्थिति ही संकटमय हो जाती। अतः थियर्स ने पेरिसवालों का सन्देह दूर करने के लिये घोषणा की कि यह बात बिलकुल असत्य है कि रास्ट्रीय सभा प्रजातंत्र को हटा कर राजतंत्र स्थापित करना चाहती है। अब यदि पेरिस में कोई सभा रास्ट्रीय सभा के विरुद्ध कार्य करती पायी जायगी तो उसे दण्ड दिया जायगा।

थियर्स फ्रांस को अविभाजित रखना चाहता था परन्तु विद्रोहियों का दमन करने के लिये उसके पास पर्याप्त सेना न थी। कुछ दिन बाद जब स्वीजरलैण्ड तथा जर्मनी से डेढ़ लाख सेना और आगयी तो थियर्स ने पेरिस पर फिर घेरा डाल दिया। एक ही साल में पेरिस में पर दूसरा घेरा पड़ा जो जर्मनी की सेनाओं से भी भयंकर था। डेढ़ मास तक पेरिस वाले उसे रोके रहे परन्तु २१ मई को सेना पेरिस में घुस गयी और एक सप्ताह तक बड़ा भयंकर युद्ध हुआ और धन जन की अपार क्षति हुई। सारा शहर अग्निमय दिखायी देता था। राजमहल, गिर्जे तथा अन्य बड़ी इमारतों से लपटें उठ रही थीं, चारों ओर से गोलियाँ बरस रही थीं और बीच में भारी क़त्लेआम हो रहा था। २८ मई को जब युद्ध बंद हुआ तो सारा शहर लाशों से भरा था। सरकार (रास्ट्रीय-सभा) ने इसके दण्ड स्वरूप अनेक सम्यवादियों को और मर माला। इस भांति एक सप्ताह में १७००० मनुष्य

मारे गये। पाँच वर्ष तक इसकी जाँच होती रही जिसमें लगभग १५ हजार मनुष्यों को भिन्न २ प्रकार का दण्ड दिया गया। ७५०० को देश-निकाला तथा ६५०० को प्राणदण्ड हुआ। इस भाँति साम्यवादियों का अस्तित्व ही मिट गया। फ्रांस की श्रेणियों में एक दूसरे के प्रति द्वेष फैल गया।

परंतु फ्रांस की राजनीति में ऐसी घटनाएँ होती आयी हैं जिनकी किसी को आशा न थी। ऐसे समय में जब कि फ्रांस शत्रुओं से घिरा था, राष्ट्रीय सभा ने किसी राजा को गद्दी पर बिठला कर घर में और फूट बढ़ाना अच्छा न समझा। अतः ३१ अगस्त १८७१ को सभा ने एक नियम बनाया जिसके अनुसार कार्यकारिणी सभा के प्रधान को 'फ्रांसीसी प्रजातंत्र के सभापति' की पदवी दी गयी। इस भाँति राजतंत्र-प्रधान राष्ट्रीय सभा ने प्रजातंत्र की स्थापना की।

अब थियर्स को सबसे बड़ी चिंता जर्मनी की पाँच लाख सेना की थी जो फ्रांस में पड़ी थी और जिसका व्यय फ्रांस के सिर था। उसे अति शीघ्र हटाने के लिये उसने देश से ऋण माँगा। इस पर माँग से कई गुना अधिक धन उसे मिल गया और उसने तीन वर्ष की मियाद से छः महीने पहले ही जर्मनी का सब ऋण चुका कर उसकी सेना फ्रांस से हटवा दी।

१८७३ में राजतंत्रवादियों ने फिर जोर पकड़ा। थियर्स भी पहले राजतंत्र के पक्ष में था, किन्तु इसमें उसने झगड़े बहुत देखे, क्योंकि राजतंत्रवादियों के तीन दल थे और किसी एक राजा को गद्दी पर बिठाने से शेष दो दल अवश्य उपद्रव मचाते। यही सोच कर वह प्रजातंत्र का पक्षपाती हो गया। उसके ऐसे

विचार देखकर राजतंत्रवादियों ने पहले उसे ही हटाना चाहा क्योंकि अब देश को उसकी आवश्यकता भी न थी। उसने वहाँ शान्ति स्थापित कर दी थी। आर्थिक प्रवन्ध ठीक कर दिया था तथा सैनिक शिक्षा अनिवार्य करके सेना भी सुधार दी थी। अतः १८७३ के चुनाव में वह हार गया और मार्शल मेकमहान सभापति हुआ जिसे नया शासन-प्रवन्ध वनाने का अधिकार मिला।

उसने शीघ्र ही राजा को गद्दी पर विठाने का प्रयत्न आरम्भ किया और चार्ल्स दशम के वंशज चेम्वोर्ड के काउण्ट से लिखा पढ़ी आरम्भ की। परन्तु काउन्ट ने जिसका नाम हेनरी था कहा कि हेनरी पंचम भी हेनरी चतुर्थ के सफेद झंडे को ही क़ायम रखेगा, न कि राजक्रान्ति के वाद के तिरंगे झंडे को। आरलीन्स वंश के पक्षपाती तिरंगा झंडा चाहते थे। अतः उनमें समझौता न हो सका और राजतंत्र का भय टल गया।

फिर भी राजतंत्रवादी निराश न हुए। चेम्वोर्ड के काउण्ट के कोई पुत्र न था। अतः उसके वाद आरलीन्स वंश का पेरिस का काउन्ट गद्दी पर वैठता जिसका झण्डा तिरंगा था। सभापति मेकमहान् का कार्यकाल कुछ निश्चित न किया गया था। अतः उन्होंने उसकी अवधि सात वर्ष नियत कर दी क्योंकि उन्होंने सोचा कि इस वीच में या तो चेम्वोर्ड का कांउट मर जायगा या सफ़ेद झण्डे का आग्रह छोड़ देगा। इस भाँति फ्रांस के सभापति का कार्यकाल सात वर्ष के लिये नियत कर दिया गया जो अब तक चला आता है।

अव फ्रांस स्थायी शासन-प्रवंध के लिये व्याकुल हो रहा था

अब अधिकांश लोग प्रजातंत्र के पक्षपाती थे। १८७५ में व्यवस्थापक सभा के दो भाग किये गये—सीनेट और प्रतिनिधि-सभा, जो मिल कर 'राष्ट्रीय सभा' कहलाते थे। इसे सभापति चुनने तथा शासन-विधान में परिवर्तन करने का अधिकार था। सभापति को कोई नया नियम उपस्थित करने, सेना तथा जलसेना का निरीक्षण करने, तथा सब बड़े बड़े अफ़सरों को नियत करने का अधिकार था।

इंगलैण्ड की पार्लमेण्ट-प्रथा वहाँ भी चलायी गयी। मंत्रिमण्डल सरकारी नीति के लिये प्रतिनिधि-सभा के प्रति उत्तरदायी है और प्रतिनिधि सभा मंत्रिमण्डल की समर्थक न हो तो मंत्रियों को त्याग-पत्र दे देना पड़ता है और ऐसी दशा में सभापति को भी अवधि से पहले पद छोड़ना पड़ता है। इस प्रकार नियम बना के पुरानी राष्ट्रीय सभा भंग हो गयी और १८७६ में नया चुनाव हुआ।

कुछ दिन बाद फिर प्रजातंत्रवादियों का ज़ोर हो गया। राजधानी फिर पेरिस में लायी गयी। १४ जुलाई—जिस दिन १७८९ की क्रान्ति के समय लोगों ने बेस्टाइल नामक जेलखाना तोड़ा था तथा जो राजतंत्र की हार का सूचक था—का दिन एक त्योहार नियत कर दिया गया और उस दिन छुट्टी होने लगी। सभाओं तथा प्रेस को स्वतंत्रता मिली। म्युनिसिपैलटियों की शक्ति बढ़ा दी गयी और १८८२ में समस्त देश में प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य तथा निःशुल्क कर दी गयी, जिससे कुछ ही वर्षों में अशिक्षितों की संख्या प्रतिशत चार रह गयी। इसमें फ्रांस का करोड़ों रुपया ख़र्च हुआ।

इसके अतिरिक्त रेलवे, नहरें, बन्दरगाह तथा सैनिक दुर्ग आदि बनाने तथा ट्यूनिस आदि उपनिवेशों पर अधिकार करने में भी बहुत व्यय हुआ। अतः लोगों ने इसका विरोध किया। प्रजातंत्र के पक्षपातियों ने इस नीति की बहुत निन्दा की। उन्होंने कहा कि अन्य देशों पर अधिकार करना उन पर अकारण आक्रमण करने के समान है और उन्हें स्वतंत्र रहने का अधिकार है।

अगले कई वर्षों में जल्दी २ सभापति तथा मन्त्रि-मण्डल बदले गये। फ्रांस अस्थायी और निर्बल सरकार से फिर ऊब निकला और फिर यह सन्देह हो चला कि प्रजातन्त्र की आयु समाप्त हो चुकी क्योंकि बहुत दिनों से वहाँ १८ वर्ष से अधिक कोई शासन न चल सका था और प्रजातन्त्र की आयु भी अब १८ वर्ष की हो गई थी।

जनता किसी बलवान् और चतुर मनुष्य की खोज में थी जो फ्रांस में स्थायी तथा सुदृढ़ शासन स्थापित कर सके। उसका ध्यान बोलंगर नामी एक मनुष्य की ओर गया जो एक विख्यात घुड़सवार, आकर्षक वक्ता तथा देखने में रोबीला था। १८८६ में वह युद्ध-मंत्री नियत किया गया था और उसने सिपाहियों के रहने तथा खाने पीने में सुधार करके उन्हें प्रसन्न कर लिया था।

तीन वर्ष तक बोलंगर फ्रांस में सर्वप्रिय रहा, राजतंत्रवादी तथा अनेक पादरी, पुरोहित आदि भी उसकी ओर झुक चले। कई पत्रों ने भी उसका समर्थन किया तथा और भी अनेक लोगों ने उसका पक्ष लिया। इससे प्रजातंत्रवादियों को फिर भय हुआ कि वह भी कहीं नेपोलियन तृतीय न बन जाय। अतः उन्होंने उस पर अभियोग लगाया। बोलंगर इससे डर कर भाग गया और दे

वर्ष बाद बेलजियम में मर गया। इस घटना से अब प्रजातंत्र की स्थिति फिर दृढ़ हो गयी।

१८९४ से १९०६ तक कर्नल ड्रीफस का मामला चलता रहा, जिससे समस्त फ्रांस में खलबली फैली रही। यह एक यहूदी सैनिक अफ़सर था जिस पर देशद्रोह का अपराध लगा कर आजन्म के लिये देशनिकाला दे दिया गया। परंतु वह दृढ़ता से अपने को निरपराध बताता रहा। अदालत ने कई बार जाँच की परंतु उसके विरुद्ध प्रमाण नहीं मिला। कई बार उसे क्षमा दी गयी और कई बार दण्ड दिया गया। अंत में १९०६ में पूरी जाँच के बाद वह निरपराध ठहराया गया। उसका पहला पद उसे दिया गया और उसके अपमान के लिये क्षमा माँगी गयी।

अब धर्म को राजनीति से अलग करने का विचार उत्पन्न हुआ। पादरी सदा से प्रजातंत्र का विरोध करते आये थे। अतः १९०३ तथा १९०५ में कानून बना कर सब पुजारियों को सरकार से वेतन देना बन्द कर दिया गया। अब तक विद्यालयों में प्रायः ये ही शिक्षक थे, परन्तु १९०५ में वे शिक्षालयों से भी निकाल दिये गये।

फ्रांस का विस्तार—सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में फ्रांस ने एक बड़ा साम्राज्य स्थापित कर लिया था, परंतु धीरे धीरे वह अंग्रेजों ने ले लिया। अतः १९वीं शताब्दी में फ्रांस ने फिर विस्तार बढ़ाया।

सब से पहले उसने अफ्रिका के उत्तरी किनारे पर स्थित अल्जीरिया प्रदेश लिया। यहाँ घूमने वाली इस्लाम धर्म की जंगली जातियाँ बसती थीं। १८३० में फ्रांस ने यह बहाना कर के

कि वहाँ के प्रधान ने फ्रांस का अपमान किया है, वहाँ सेना भेज दी। वहाँ का सरदार अब्दुल कादिर १४ वर्ष तक वीरता से लड़ा, पर अंत में थक गया और फ्रांस ने १८४७ में उसे अपने राज्य में सम्मिलित कर लिया।

नेपोलियन तृतीय ने अफ्रिका में सिनीगाल की घाटी पर अधिकार कर लिया। एशिया में उसी समय अनाम देश के राजा पर फ्रांस के धर्म-प्रचारकों का निरादर करने के बहाने से उसने धावा कर दिया और आठ वर्ष की लड़ाई के बाद १८६७ में कोचीन-चीन तथा कम्बोडिया भी फ्रांस ने ले लिये।

१८८१ में अल्जीरिया से पूर्व ट्यूनिस पर तथा पश्चिम अफ्रिका में गिनी, नाइगर तथा कांगो नदी के पास की भूमि पर अधिकार किया गया। इस भाँति तीसरे प्रजातंत्र के समय में अफ्रिका में फ्रांस के अधीन फ्रांस देश से प्रायः आठ गुना देश आ गया जिनमें सब से बड़ा सूडान है।

१८९५ में मेडागास्कर का द्वीप जो क्षेत्रफल में फ्रांस से बड़ा है तथा जहाँ २५ लाख मनुष्य बसते हैं फ्रांस में मिला लिया गया। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में फ्रांस का साम्राज्य फ्रांस से ग्यारह गुना बड़ा था।

बारहवाँ अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप का विस्तार

आफ्रीका में यूरोप

हम देख चुके हैं कि सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में स्पेन और पुर्तगाल ने नयी दुनिया में अपने साम्राज्य स्थापित किये परंतु शीघ्र ही इनके साम्राज्यों को डच, फ्रेंच और अंग्रेज़ों ने लूट लिया। फिर अंग्रेज़ों ने फ्रेंच और डच लोगों से भी अनेक उपनिवेश छीन लिये। इस भाँति अंग्रेज़ों का साम्राज्य सब से बड़ा हो गया परन्तु १८वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में उत्तर अमेरिका में अंग्रेज़ों के १३ उपनिवेश विद्रोह करके स्वतन्त्र हो गये तथा कुछ दिन बाद नई दुनिया में स्पेन के शेष उपनिवेश भी स्वतन्त्र हो गये।

इन अनुभवों के कारण कुछ काल के लिये यूरोप के लोगों ने उपनिवेशों पर अधिकार करने का विचार छोड़ दिया। राजनीतिज्ञों ने इनकी तुलना फलों से की जो पकने पर वृक्ष (अपनी मातृभूमि) से अलग हो जाते हैं। परन्तु १९वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में फिर बड़े वेग से विचार में परिवर्तन हुआ और यूरोपीय देश उपनिवेशों पर अधिकार करने के लिये एक दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हो गये।

इसके कई कारण थे। उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप की जनसंख्या में अपार वृद्धि हुई जो इतिहास में बड़े महत्व की है, अर्थात् जनसंख्या १६ करोड़ से बढ़ कर ४३ करोड़ हो गयी

और उसने सब संसार को ढँक लिया। दूसरा कारण औद्योगिक क्रांति है, जो १८वीं शताब्दी के अन्त में इंगलैंड में आरम्भ हुई। मशीनों द्वारा बेचने योग्य माल बड़े परिमाण में तैयार होने लगा। इसकी खपत के लिये नये देशों तथा नये बाजारों की आवश्यकता थी। इस कारण सब देशों ने नये देशों पर सबसे पहले अपना अधिकार करना चाहा। इङ्गलैंड को उपनिवेशों द्वारा लाभ होते हुए देख कर भी और देशों को द्वेष उत्पन्न हुआ।

किन्तु यूरोप की इस जागृति से पहले ही यूरोपियनों के बसने योग्य अधिकांश भूमि पर इंगलैंड अपना अधिकार कर चुका था। फिर भी अफ्रीका का बहुत बड़ा भाग अब तक छिपा था। हम देख चुके हैं कि १४८६ में डियाज और वास्कोडी-गामा ने अफ्रीका के दक्षिणी हिस्सों में होकर यात्रा की थी फिर भी लगभग तीन शताब्दी तक यह अन्धकारमय रहा यद्यपि उसका रहस्य जानने की इच्छा बहुत लोगों को थी। कई लोग इन रहस्यों का पता लगाने गये। १८४० से १८७३ तक स्काटलैंड के एक धर्म-प्रचारक लिविंगस्टन ने वहाँ परिभ्रमण किया और बहुत सी नयी भूमि का पता लगाया। इंगलैंड के लोगों ने उसे मरा अथवा भटका जान कर उसका पता लगाने के लिये हेनरी स्टेनले के अधीन कुछ लोग भेजे, जिन्होंने बड़ी कठिनाई से उसका पता लगाया। लिविंगस्टन के मरने पर उसकी लाश बड़ी धूमधाम से इङ्गलैंड लायी गयी और वेस्ट-मिनिस्टर एबी में गाड़ी गयी।

लिविंगस्टन का कार्य स्टेनले ने अपने ऊपर लिया और तीन वर्ष में कांगो प्रदेश छान डाला। उसने पता लगाया कि कांगो नदी

संसार की सबसे बड़ी नदियों में से है। इसकी लम्बाई तीन हज़ार मील है और चौड़ाई अमेज़न से कुछ ही कम। कोलंबस के समय से अब तक इतने महत्व की खोज नहीं हुई थी। स्टेनले के भ्रमण-वृत्तान्त को समस्त यूरोप ने दिलचस्पी से पढ़ा और राजनीतिज्ञ, व्यापारी, पुरोहित आदि सभी ने वहाँ जाने और अधिकार करने की इच्छा प्रकट की। फ्रांस १८४८ में अल्जीर्स को अपने राज्य में मिला ही चुका था। अतः १८८१ में उसने ट्यूनिस पर भी अधिकार कर लिया। १८८२ में इङ्गलैण्ड ने मिश्र पर अधिकार कर लिया। इसी भाँति जर्मनी तथा इटली ने कुछ देश दबा लिये।

बेलजियम का राजा लीयोपोल्ड द्वितीय इस खोज में बहुत दिलचस्पी लेता था। उसने प्रस्ताव किया कि पृथ्वी के इस नये भाग को सभ्यता सिखाने तथा वहाँ अपने व्यापार, उद्योग आदि का प्रचार करने के लिये एक सभा बनायी जाय। अतः यूरोप के कई देशों की एक सभा बैठी। इस समय स्टेनले अफ्रिका में अपनी खोज में लगा हुआ था। उसने नील नदी के उद्गम तथा अन्य रहस्यों का पता लगाया तथा भूमध्य रेखा के दक्षिण में एक बड़ी झील भी ढूँढ़ी, जिसका नाम उसने विक्टोरिया न्यान्ज़ा रखा। छः वर्ष बाद एक और झील मिली जो अलबर्ट न्यान्ज़ा कहलाई। लिविंगस्टन इससे पहले ही बेचुआना लैण्ड, न्यासा तथा कांगो आदि का पता लगा चुका था।

जब १८७८ में स्टनले यूरोप लौटा तो उसे लीयोपोल्ड ने फिर अपने व्यय से अफ्रिका भेजा कि वह वहाँ कुछ स्थान स्थापित करके यूरोपीय शासन की नींव डाल दे। स्टेनले परिश्रमी तथा चतुर

मनुष्य था। उसने पाँच वर्ष तक लगातार श्रम करके वहाँ के लगभग पाँच सौ सरदारों से सन्धियाँ कीं जिन्होंने उसे अपनी भूमि का राजाधिराज बनाना स्वीकार कर लिया। इस भाँति वहाँ कांगो 'स्वतंत्र राज्य' की स्थापना करके स्टेनले बड़े बड़े राज्य-संस्थापकों में अपना नाम लिखा गया।

स्टेनले का अधिकांश व्यय बेलजियम ने ही दिया था। अतः १८८५ में लीयोपोल्ड ने कांगो को पूर्णतया अपने अधीन कर लिया तथा वहाँ के स्त्री-बच्चों के साथ बहुत क्रूरता का व्यवहार किया। इस पर अन्य देशों ने हस्तक्षेप किया और १९०८ में वहाँ राजा के स्थान पर पार्लमेण्ट का शासन स्थापित हुआ तथा कुछ अन्य सुधार हुए।

स्टेनले के समय में ही कुछ फ्रांसीसी तथा जर्मन लोग भी वहाँ खोज करने पहुँच गये थे। शीघ्र ही ट्यूनिस के पश्चिम प्रदेश मोरक्को में भी फ्रांसीसी सेना का पदार्पण हुआ। अनेक युक्तियों से फ्रांस तथा स्पेन ने मिल कर वहाँ अपना अधिकार कर लिया परन्तु ये विदेशी लोग वहाँ शान्ति और सुख से न रह सके। मोरक्को की स्वतंत्रता-प्रिय वीर रीफ़ जाति ने कभी भी विदेशियों की अधीनता पूर्णतया स्वीकार नहीं की। इस भाँति कांगो नदी के दहाने से ट्यूनिस तक सब प्रदेश—जो अधिकांश रेगिस्तान है—फ्रांस के अधीन है। इसके अतिरिक्त पूर्वी किनारे पर सुमालीलैंड तथा मेडागास्कर का बड़ा द्वीप भी फ्रांस के अधिकार में है।

इंगलैण्ड और फ्रांस का अनुकरण करके इटली ने भी अफ्रिका में अपने हाथ फैलाये और लालसागर के पास कुछ स्थान पर अधिकार कर लिया जो एरेट्रिया कहलाता है। इसी

समय पूर्व अफ्रिका में सोमालीलैण्ड प्रदेश के कुछ भाग पर भी उसने अपना संरक्षण स्थापित कर लिया। इसी कारण इटली का एबीसीनिया के शासक से युद्ध हो गया जिसमें इटली के धन-जन की बहुत हानि हुई और देश में राजतंत्र के विरुद्ध बहुत असन्तोष बढ़ा। कई स्थानों पर विद्रोह भी हुए जो क्रूरता से दबाये गये। जुलाई १९०० में एक अराजक ने वहाँ के राजा हम्बर्ट की हत्या कर दी और उसका पुत्र विक्टर एमेनुएल तृतीय गद्दी पर बैठा जिसने अपनी उदार नीति से प्रजा को शान्त और सन्तुष्ट कर लिया।

पुर्तगालवालों के अधिकार में अफ्रीका में गिनी और ईष्ट अफ्रिका है।

उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दिनों तक जर्मनी के पास कोई उपनिवेश नहीं था। अतः उसके प्रवासी लोगों को अमेरिका, स्पेन तथा इङ्गलैण्ड आदि के उपनिवेशों में बसना पड़ता था। १८७० की विजय से जर्मनी का उत्साह बढ़ा और उसने विश्व-साम्राज्य स्थापित करना चाहा। जब अफ्रिका के बँटवारे के लिये यूरोपीय देशों में झगड़ा चल रहा था तो जर्मनी भी उसमें कूद पड़ा। १८८४ में उसने ऑरेंज नदी के दक्षिण-पश्चिमी किनारे के मैदान पर अपना अधिकार घोषित कर दिया और भूमध्य रेखा के पास के और देश दबा लिये। पूर्वी किनारे पर भी उसने जर्मनी से दुगुने देश पर अधिकार कर लिया जहाँ कई बड़ी २ झीलें हैं। यह देश 'जर्मन पूर्वी आफ्रीका' कहलाता है। इस भाँति १८८४ और १८९० के बीच में जर्मनी ने चार विस्तृत भूमि-भागों पर अधिकार कर लिया, जो टोगोलैण्ड, कामरून, जर्मन दक्षिण पश्चिमी

अफ्रीका तथा जर्मन पूर्वी अफ्रिका कहलाते हैं। अधिक हाल आगे किसी अध्याय में दिया जायगा।

अफ्रिका में इङ्गलैण्ड का अधिकार

अफ्रिका में डच (हालैण्डवाले) लोग अंगरेजों से बहुत पहले आ गये थे और सत्रहवीं शताब्दी में उन्होंने अफ्रिका के दक्षिणी अन्तरीप में बस्ती आरम्भ कर दी थी। फ्रान्स की राज्य-क्रान्ति के समय हालैण्ड ने अंगरेजों के विरुद्ध फ्रांस की सहायता की। अतः अंगरेजों ने उनकी अफ्रिका की बस्ती पर अधिकार कर लिया और १८१४ में उसके बदले में कुछ रुपया देकर उसे अपने ही पास रक्खा। परन्तु वहाँ के लोग, जो प्रायः डच थे और जो स्वतंत्रतापूर्वक रहने के लिये ही अपने घरों से इतनी दूर जाकर बसे थे, इस दासता को सहन न कर सके। अंगरेजों ने वहाँ के शासन, वहाँ की अदालतों आदि को बदल दिया और अंगरेजी भाषा के व्यवहार के लिये बहुत जोर दिया। इन बातों से क्रुद्ध होकर वे लोग सब के सब अपने पुराने घरों को छोड़ कर स्त्री-बच्चों समेत गाड़ियों पर सामान लाद कर उत्तर-पूर्व की ओर चल दिये और नेटाल में जाकर बसे। कुछ लोग और भी आगे बढ़ गये और उन्होंने आरेंज नदी के किनारे पर 'आरेंज स्वतंत्र राज्य' की स्थापना की। डच बोअरों अर्थात् किसानों का यह साहसपूर्ण कार्य १८३६ का 'महा-प्रस्थान' कहलाता है।

परन्तु इन जगहों पर भी वे स्वतंत्रतापूर्वक न रह सके। अंगरेजों को पड़ोस में ही एक शक्तिमान् शत्रु-राज्य का स्थापित होना सह्य न हुआ। उन्होंने बहाना किया कि इन राज्यों की अराजक दशा तथा तद्देशीय सरदारों के साथ उनके झगड़ों के कारण

अन्तरीप–उपनिवेश की शान्ति में बाधा पहुँचती है। अतः उन्होंने नेटाल पर भी १८४२ में अपना अधिकार कर लिया। तब डच लोग आगे बढ़कर ट्रांसवाल में जा बसे, जिसकी स्वतंत्रता को अंगरेजों ने स्वीकार कर लिया। १८४८ में केप-कालोनी के गवर्नर सर हेनरी स्मिथ ने घोषणा की कि आरेंज और वॉल नदियों के बीच का कुल प्रदेश रानी (विक्टोरिया) की अधीनता में रहेगा। डच लोगों ने इसका विरोध किया किन्तु वे हार गये। इस भाँति 'आरेंज स्वतंत्र राज्य' पर भी अंगरेजों का अधिकार हो गया।

अंगरेजों ने ट्रान्सवाल की स्वतंत्रता स्वीकार कर ली थी किन्तु वहाँ पर अशान्ति का बहाना करके १८७७ में उन्होंने उसे भी अपने अधीन कर लिया और बोअरों पर कड़ा शासन जमाया जिससे उन्होंने एकदम विद्रोह कर दिया और १८८१ में अंगरेजों की एक सेना को मजूबा पहाड़ी पर हरा दिया।

प्रधान मंत्री ग्लैडस्टन ने इंगलैण्ड की संरक्षता में ट्रांसवाल को आन्तरिक स्वतंत्रता देना स्वीकार कर लिया परन्तु बोअर पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे। अतः १८८४ में उन्हें प्रायः पूर्ण स्वतंत्रता ही मिल गयी।

दूसरे वर्ष ट्रान्सवाल के दक्षिण में सोने की कई खानों का पता लगा और एक दम वहां इधर उधर से अनेक लोग आकर बस गये जिनमें से अधिकांश अंग्रेज थे। विदेशी होने के कारण इन्हें वहाँ के शासन में कोई भाग नहीं दिया गया परन्तु इन लोगों ने चुनाव का अधिकार प्राप्त करने के लिये जोर दिया। बोअर प्रेसीडेन्ट पाल क्रूजर ने इस माँग को अस्वीकृत कर दिया, क्योंकि इससे डच लोग फिर इंगलैण्ड के आसरे हो जाते। इस

पर इंगलैण्ड में बड़ा क्रोध फैला और लार्ड मिलनर वहाँ पर जाँच के लिये भेजे गये। उन्होंने रिपोर्ट दी कि वहाँ पर अंग्रेजों की अवस्था बहुत बुरी है। 'शरारती' डच लोग यह विचार कर रहे हैं कि हम सब मिल कर अंग्रेजों को वाहर निकाल दें तथा इंगलैण्ड की मानरक्षा के लिये यह आवश्यक है कि वोअर लोगों को कुछ पाठ पढ़ाया जाय।

इस रिपोर्ट से इंगलैण्ड में वड़ी सनसनी फैली। लिखा पढ़ी से कोई लाभ न हुआ और अन्त में अक्तूबर १८८९ में इंगलैण्ड तथा ट्रान्सवाल-प्रजातंत्र में युद्ध-घोषणा हो गयी। आरेंज राज्य ने अपने भाई वोअरों का साथ दिया।

तीन वर्ष तक भारी युद्ध होता रहा। वीर डच लोगों ने कई स्थानों पर अंग्रेजी सेना को हराया परन्तु ब्रिटिश सेना की संख्या वहुत अधिक थी। कनाड़ा, आस्ट्रेलिया तथा भारत आदि कई देशों ने भी उसकी सहायता की। अन्त में डच लोगों ने हार स्वीकार कर ली।

१ जून १९०२ को सन्धि हो गयी। ट्रान्सवाल और आरेंज राज्य ब्रिटिश उपनिवेश बना लिये गये। फिर उन्हें प्रसन्न रखने के लिये वहां पर शासन-सुधार आरम्भ किये गये। १९०९ में सब उपनिवेशों को मिलाकर वहां आन्तरिक स्वतंत्रता स्थापित कर दी गयी। इंगलिश तथा डच दोनों भाषाएँ समान मानी गयीं और व्यवस्थापक तथा कार्यकारिणी सभाओं में वहीं के लोगों को अधिक भाग दिया गया। इस भाँति वहां के लोग सन्तुष्ट हो गये।

मिश्र और सूडान

मिश्र का कुछ हाल हम नवें अध्याय में पढ़ चुके हैं। १६ वीं शताब्दी के आरम्भ में यहां पर तुर्की के सुलतान का आधिपत्य था। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में सुलतान ने कुछ विद्रोहियों को दबाने के लिये अपने एक सरदार मुहम्मद अली को मिश्र भेजा परन्तु वह १८११ में मिश्र का स्वतंत्र राजा बन गया और १८६६ से उसके वंश के राजा खदीव कहलाने लगे।

इस वंश का पाँचवा खदीव इस्मायल (१८६३-७९) हुआ। इसी के समय में फ्रान्स के एक चतुर इंजीनियर के निरीक्षण में स्वेज की नहर पूरी हुई जिसमें यूरोपीय देशों ने बहुत रुपया लगाया। खदीव के अधिक व्यय के कारण मिश्र पर कुछ ऋण हो गया। मिलनर साहब वहां भी जाँच के लिये भेजे गये। उन्होंने कहा कि इतना अत्याचार और अपव्यय आज तक कभी भी किसी देश में नहीं हुआ।

रुपयों की आवश्यकता पड़ने पर खदीव ने स्वेज नहर के अपने शेयर्स इंगलैण्ड को चालीस लाख पौण्ड को बेंच दिये। इससे फ्रांस को बहुत बुरा लगा क्योंकि उन शेयरों का मूल्य दिन दिन अधिक होता जाता था। कुछ दिन बाद खदीव ने इंगलैंड और फ्रांस से फिर ऋण लिया। इन लोगों ने खदीव को दिवालिया समझ कर, अपने देशवासियों का रुपया मारा जाने का बहाना करके मिश्र पर अपना अधिकार कर लिया। इस प्रकार १८७९ से १८८२ तक वहाँ पर फ्रांस और इंगलैंड का द्वैध-शासन रहा। इस दासता से क्रुद्ध होकर

इस्माइल ने ऐसा नाम मात्र का राज्य ही छोड़ देना अच्छा समझा और उसका पुत्र गद्दी पर बिठाया गया। नये ख़दीव ने विदेशियों का विरोध नहीं किया परन्तु विदेशियों के नवाबी व्यवहार से वहाँ की प्रजा में शीघ्र ही असन्तोष फैल गया और 'मिश्र मिश्रवासियों का' की पुकार चारों ओर से निकली। इसी आन्दोलन का प्रचार करने के लिये एक दल बन गया जिसका नेता अरबी पाशा नाम का एक सैनिक अफ़सर था। ख़दीव का इस आन्दोलन के आगे कुछ ज़ोर न चला।

इस नये विद्रोह को दबाने के लिये इंगलैण्ड ने फ्रांस की भी सहायता माँगी परन्तु फ्रांस ने इस झगड़े में पड़ने से इनकार कर दिया। अतः इंगलैंड ने अकेले ही जाकर वहाँ के नगर अलेक्जंड्रिया पर गोलाबारी आरम्भ कर दी जिससे अरबी पाशा वहाँ से हट गया (जुलाई १८८२)। फिर अंग्रेज़ी सेना अरबी के पीछे काहिरा नगर की ओर बढ़ी जहाँ अरबी हार गया और क़ैद कर लिया गया।

इस विद्रोह को दबाने के लिये इंगलैंड ने ख़दीव का पक्ष लेकर उसी की ओर से हस्तक्षेप किया था किन्तु ख़दीव अथवा तुर्की के सुलतान ने उससे ऐसा करने को कभी नहीं कहा था। अब इंगलैंड ने सोचा कि यदि मिश्र को बिलकुल स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय तो उनका हस्तक्षेप करना और विजय प्राप्त करना व्यर्थ हो जायगा। मिश्र अधिकार में आ ही चुका था, उसे छोड़ देना सहज कार्य न था किन्तु दूसरी ओर उसे यह भय था कि मिश्र पर खुल्लमखुल्ला अपना अधिकार घोषित कर देने से यूरोपीय देश—विशेषतया फ्रांस और तुर्की—क्रुद्ध होंगे। इस विचार

से इङ्गलैंड ने घोषित किया कि मिश्र स्वतन्त्र देश है किन्तु वहाँ विद्रोह और अराजकता फैलने का भय है। इसलिये कुछ दिन तक इंगलैंड वहाँ पर 'सलाहगार' की भाँति रहेगा। ज्यों ही खदीव का अधिकार दृढ़ हो जायगा और देश में शांति स्थापित हो जायगी ब्रिटिश सेना हटा ली जायगी।

इस 'सलाह' का अर्थ मिश्र को इस भाँति समझाया गया कि मिश्र के मंत्रियों को इङ्गलैण्ड द्वारा निश्चित की हुई नीति के अनुसार चलना पड़ेगा। जो मंत्री ऐसा न करना चाहें वे अपना पद छोड़ दें। इस प्रकार यह 'सलाह' बहुत दिन तक चलती रही और अब तक भी मिश्र में इसी के लिये आन्दोलन हो रहा है।

१८८२ में मिश्र के साथ ही इङ्गलैंड को एक दूसरे झगड़े में पड़ना पड़ा जिससे उसे बहुत हानि हुई। मिश्र की अधीनता में ही उसके दक्षिण में सूडान का विस्तृत देश था, जहाँ पर अधिकांश अर्ध-शिक्षित जातियाँ रहती थीं। वहाँ के एक सरदार ने अपने को ईश्वर का अवतार बता कर और मेंहदी नाम रख कर मिश्र से विद्रोह कर दिया और बहुत से अंग्रेजों को क़ैद कर लिया। इङ्गलैंड ने जनरल गोर्डोन के नेतृत्व में एक सेना भेजी। गोर्डोन साहब बड़ी निर्भयता से वहाँ की राजधानी खारतूम में पहुँचे। सब को आशा थी कि वे बिना किसी लड़ाई के कैदियों को छुड़ा लायेंगे क्योंकि वे कई बार विजय प्राप्त कर चुके थे, परन्तु खार्तूम में पहुँचते ही मेंहदी की सेना ने उन्हें घेर कर क़ैद कर लिया।

इङ्गलैण्ड में इस समाचार से घबराहट फैल गयी और गोर्डोन के छुटकारे के लिये पुकार मची। मंत्री ग्लैडस्टन ने कुछ दिन

और ठहर कर सितम्बर १८८४ में लार्ड किचनर के अधीन एक सेना भेजी, परन्तु उसके खार्तूम पहुँचने के दो दिन पहले ही विद्रोहियों ने खार्तूम पर आक्रमण करके जनरल गोर्डोन तथा उनके ग्यारह हजार सैनिकों को क़त्ल कर दिया। अब महामंत्री ग्लैडस्टन पर विलम्ब से सेना भेजने का दोष लगाया गया और उनका मंत्रिमण्डल शीघ्र ही हार गया।

दस वर्ष बाद १८९६ में फिर अंग्रेज़ों और मिश्रवासियों की एक सेना लार्ड किचनर के अधीन सूडान को भेजी गयी। इस समय सूडान में 'दरवेश' लोगों का ज़ोर था। लार्ड किचनर ने उन्हें हराकर सूडान पर फिर अधिकार कर लिया और वहाँ पर इङ्गलैण्ड और मिश्र दोनों के झण्डे फहराये गये। अब सूडान में भी अंग्रेज़ों का आधिपत्य है।

अंग्रेज़ों ने वहाँ पर नील नदी का बाँध बाँधकर खेती के लिये सिंचाई का सुभीता कर दिया है और अनेक अंगरेज़ों का कथन है कि मिश्र इस समय जैसा समृद्ध-धनधान्य पूर्ण है, वैसा पहले कभी नहीं था।

मिश्र और सूडान पर वास्तव में अंगरेज़ों का पूर्ण अधिकार है। खदीव का पद नाम मात्र को है। इङ्गलैण्ड का मंत्रिमण्डल जो निश्चित करे उसे खदीव को सादर शिरोधार्य करना पड़ता है। महायुद्ध के बाद अंगरेज़ों ने उसे पूर्ण रूप से अपने अधीन घोषित कर दिया।

तेरहवाँ अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी में यूरोप का विस्तार

एशिया में यूरोप

यूरोप के अधिकार की सीमा आस्ट्रेलिया, अमेरिका तथा अफ्रिका तक ही परिमित न रही। संसार का पाँचवाँ महाद्वीप— एशिया भी गोरों की साम्राज्य-लिप्सा से बच न सका। हम पढ़ चुके हैं कि फ्रांस ने इण्डो चायना तथा कम्बोडिया पर किस प्रकार अधिकार जमाया। भारत पर अंग्रेजों के अधिकार का इतिहास हम सब को विदित ही है। दक्षिणी एशिया में इन्हीं दोनों शक्तियों का प्राधान्य है।

एशिया के उत्तर में यूराल पर्वत से लेकर पूर्व में शान्त महासागर तक रूस का अधिपत्य है। रूस की कोज़क जाति ने १५८१ में ही यूराल पर्वत को लाँघ कर पूर्व की ओर राज्य बढ़ाना आरम्भ कर दिया था। वहाँ पर जन-संख्या बहुत कम थी। अतः उन्हें आगे बढ़ने में कठिनाई न पड़ी और इस प्रकार धीरे २ वे पचास वर्ष में शान्त महासागर तक पहुँच गये और १६४८ में ओखटस्क नगर बसाया। बाद में रूसी लोगों ने इस देश का नाम साइबेरिया रखा।

रूस के पास यूरोप तथा एशिया में ऐसा कोई बन्दरगाह न था जो सदा बर्फ़ से खुला रहता हो। उत्तर के बन्दरगाह वर्ष में छः महीने बर्फ़ से ढके रहते हैं। १९वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जब

उसे अपना व्यापार बढ़ाने की चिन्ता हुई तो उसने एशिया में दक्षिण की ओर बढ़ना आरम्भ किया जिससे उसके अधिकार में कुछ अच्छे बन्दरगाह आ जायँ और उसके व्यापार की उन्नति हो।

इसी उद्देश से रूस ने १८५८ में चीन से, जो उस समय ग्रेटब्रिटेन और फ्रान्स से युद्ध में लगा हुआ था आमूर नदी के उत्तर की भूमि ले ली और दो वर्ष बाद उसके दक्षिण की भी बहुत सी भूमि ले ली और वहाँ व्लाडीवोस्टक नगर बसाया और उसे पूर्व में अपनी जल-सेना का केन्द्र बनाया।

दूसरी ओर उसने कास्पियन सागर के पूर्व में तुर्किस्तान भी जीत लिया। इस भाँति वह भारत के पास आ गया। अंग्रेजों को उसकी वृद्धि से चिन्ता उत्पन्न हुई और उन्होंने अफ़गानिस्तान से मित्रता करके और उसे कुछ धन देकर रूस की वृद्धि रोकने के लिये नियत किया।

इस भाँति चीन का प्राचीन देश दक्षिण और उत्तर दोनों ओर से यूरोपियनों से घिर गया। चीन में कृषि के योग्य उपजाऊ भूमि बहुत है तथा वहाँ की नदियाँ भी चौड़ी हैं जिनके द्वारा बहुत दिनों से व्यापार होता आया है। वहाँ लोहा, कोयला आदि खनिज पदार्थ भी बहुत हैं जो अब तक छिपे पड़े हैं।

चीनी लोग स्वभाव के सीधे, सच्चे और धर्मात्मा होते हैं। वे अपने पूर्वजों का बहुत आदर करते हैं और उन्हीं का अनुसरण करते हैं। दूसरी ओर यूरोपीय लोग सदा असन्तुष्ट तथा उन्नतिशील होते हैं। चीनी लोग अपने पूर्वजों के आचार विचारों को सदा मानते आये हैं और विदेशियों को अपनी शांति में बाधक

समझ कर सदा उन्हें शत्रु के समान समझते तथा उनसे अलग रहने का प्रयत्न करते रहे हैं।

किन्तु यूरोपीय लोगों ने उन्हें बहुत दिनों तक अलग न रहने दिया। चीन को १८४० में ग्रेटब्रिटेन से युद्ध करना पड़ा जो 'अफ़ीम युद्ध' कहलाता है। कारण यह था कि चीनी सरकार ने अपनी प्रजा से अफ़ीम का हानिकारक प्रयोग छुड़ाने के लिये १७९६ में उसका व्यापार बन्द कर दिया। परन्तु अंग्रेज व्यापारी चोरी से भारत से अफ़ीम ले जाकर वहाँ बेचते रहे। १७९६ में ही वहाँ ४००० सन्दूक अफीम के पहुँचाये गये और १८३७ में ३०,००० जिनमें से प्रत्येक में ६०० से १२०० डालर तक की अफ़ीम होती थी। इससे अंग्रेज़ व्यापारियों को बड़ा लाभ होता था।

१८३७ में चीन सरकार ने इस गुप्त व्यापार को बन्द करने के लिये लिन नाम के एक वीर को नियत किया जिसने चोरी के २०,००० सन्दूक पकड़े और नष्ट कर दिये। बस इसी बात को लेकर ग्रेटब्रिटेन ने चीन से युद्ध-घोषणा कर दी। दो वर्ष तक लड़ कर चीन को हरा दिया। चीन तथा एक यूरोपीय शक्ति में यह पहला ही युद्ध था जिसके परिणाम स्वरूप चीन में विदेशियों के लिये द्वार खुल गया। १८४२ की नानकिंग की संधि से चीन को नष्ट की हुई अफ़ीम तथा युद्ध का व्यय क्षतिपूर्ति स्वरूप देना पड़ा तथा अंग्रेजों को व्यापार के लिये केण्टन, अमोय, फूचो, निंगपो तथा शंघाई ये पाँच बन्दरगाह देने पड़े और केण्टन के पास का द्वीप हांगकांग भी छोड़ना पड़ा जो अब अंग्रेज़ों का प्रधान व्यापारिक केन्द्र है। इसके बदले में चीन ने अफ़ीम का

व्यापार बन्द कराना चाहा किन्तु अंग्रेजों ने उसे उसी प्रकार जारी रखा।

अंग्रेज़ों की सफलता देख कर दूसरे देशों ने भी चीन में हस्तक्षेप करना आरम्भ किया। फ्रांस, बेलजियम, हालैंड, प्रशा तथा पुर्तगाल ने भी उन्हीं पाँच नगरों में अपने अपने व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये।

कुछ दिनों बाद केण्टन के अंग्रेजों का चीनियों से फिर झगड़ा हुआ। इस बार फ्रांस भी अंग्रेज़ों से मिल गया क्योंकि उसका एक पादरी वहाँ मार डाला गया था। दोनों की सेनाओं ने राजधानी पेकिन की ओर प्रस्थान किया। डर कर १८५८ में चीनी सम्राट् ने टिएटसिन स्थान पर सन्धि कर ली जिसके अनुसार चीन में ब्रिटिश राजदूत रहने लगा तथा अंग्रेजों को व्यापार के लिये कुछ और स्थान मिले तथा यही शर्तें फ्रांस से भी निश्चित हुई। अब तो विदेशियों का दिमाग़ बहुत ही चढ़ गया। शीघ्र ही उन्होंने यह कह कर कि चीन ने इन शर्तों का उचित पालन नहीं किया है फिर पेकिन की ओर प्रस्थान करके खूब गोले बरसाये और सम्राट् का एक महल नष्ट कर दिया। सन् १८६० में फिर सन्धि हो गयी और इस युद्ध का व्यय भी चीन ने देना स्वीकार कर लिया।

जापान—यूरोपीय लोगों की इस वृद्धि से पूर्वीय लोगों का जीवन संकटमय हो गया था। पीली जाति—जिसकी संख्या पृथ्वी की समस्त जनसंख्या की तिहाई है—की स्वतन्त्रता संकट में थी। भय था कि और देशों की भाँति चीन भी टुकड़े २ होकर विदेशियों में बँट जायगा।

परन्तु जापान ने इस भय और सन्देह को दूर कर दिया। जापान की उन्नति का इतिहास नवीन है। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में उसने किस प्रकार अपनी गणना संसार की महाशक्तियों में करा ली इसका वृत्तान्त भी बड़ा मनोरंजक है। चीनियों की भाँति जापानी भी सीधे सादे स्वभाव के होते हैं, परन्तु वे चुस्त तथा कार्यकुशल होते हैं। उनके धर्म में देशभक्ति भी एक प्रधान धर्म है। वे भी विदेशियों से दूर रहना चाहते थे किन्तु १५४२ में एक यूरोपीय मनुष्य खोज करता हुआ जापान में पहुँच गया। उसके बाद अनेक धर्म-प्रचारक वहाँ पहुँचे और प्रति वर्ष हज़ारों जापानियों को ईसाई बनाने लगे तथा राजनैतिक षड्यंत्र भी रचने लगे। इस पर जापान ने १५९१ में २०,००० से अधिक नये ईसाई बने हुए मनुष्यों को मरवा डाला और विदेशियों को निकाल कर आज्ञा दे दी कि यदि अब कोई विदेशी वहाँ पर आवेगा तो उसे प्राणदण्ड दिया जायगा। विदेशी वस्तुएँ मोल लेने तथा जापानी मनुष्यों को विदेशों में जाने की भी मनाही कर दी गयी।

लगभग तीन सौ वर्ष बाद सन् १८५६ में अमेरिका की एक जलसेना ने पहुँच कर जापान की शान्ति को फिर भंग किया। ये लोग शान्त महासागर में मछलियों का शिकार कर रहे थे परन्तु जब कभी ये किसी द्वीप में आश्रय लेते तो वहाँ वाले इन्हें लूटते, पीटते और डुबो देते थे। अमेरिका की सरकार ने इनकी क्षतिपूर्ति के लिये जापान को लिखा। बहुत दिनों तक वाद-विवाद के पश्चात् जापान ने अमेरिका की विशाल जल-सेना से डर कर सन् १८५४ में उससे संधि कर ली और अमेरिका के जहाज़ों के

लिये दो बन्दरगाह दे दिये। इस भाँति जापान में भी विदेशियों का पदार्पण हो गया।

परन्तु यह संधि जापान के एक महामंत्री ने की थी। इससे जापान के सम्राट् मिकाडो तथा अन्य अनेक सरदार उसके विरुद्ध हो गये और १८६६ में उसके मरने के बाद उसका परम्परा का पद तोड़ दिया गया। १८६७ में मुत्सुहितो जापान के सम्राट् हुए जो उस समय १५ वर्ष के थे। उन्होंने महामंत्री की सारी शक्ति अपने हाथ में कर ली और पुरानी राजधानी कियोटो को छोड़ कर महामंत्री की राजधानी यड्डो को अपनी राजधानी बनाया और उसका नाम टोकियो (पूर्व की राजधानी) रखा।

इस भाँति विदेशियों के पदार्पण तथा जापान के आन्तरिक परिवर्तन के कारण, वहाँ पर जागृति उत्पन्न हो गयी। जापान ने अपनी प्राचीन विदेशी-नीति बदल दी और पश्चिम से भी उन्नत कलाएँ तथा विद्याएँ सीखना आरंभ किया और बड़े वेग से उन्नति की। सरदारों तथा समुराई (क्षत्रिय) लोगों ने अपने विशेष अधिकार छोड़ दिये और वे भी साधारण नागरिकों की भाँति रहने लगे। अब नये ढंग से सैनिक संगठन हुआ। १८७२ में सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गयी जिससे एशिया में क्रांति उत्पन्न हो गयी। चालीस वर्ष की आयु तक प्रत्येक मनुष्य को अवसर पड़ने पर युद्ध के लिये बुलाया जा सकता था। सेना को पश्चिमी ढंग से युद्ध सिखाने के लिये कई यूरोपीय अफ़सर रक्खे गये। जल-सेना भी तैयार हुई और बन्दर सुधारे गये। रेल तथा पश्चिमी शिक्षा का प्रचार किया गया तथा अन्त में १८९० में

वहाँ वैधशासन की भी स्थापना हुई। इस भाँति थोड़े ही काल में जापान में युगान्तर उपस्थित हो गया।

इस नवीन शक्ति को प्रदर्शित करने का अवसर भी जापान को शीघ्र ही मिल गया। कोरिया प्रायद्वीप कोचीन और जापान दोनों लेना चाहते थे। इसी कारण १८९४ में दोनों में युद्ध हो गया। जापान को यह भी भय था कि यूरोपीय जातियाँ चीन की भूमि पर अधिकार करके उसे भी डरायेंगी। अतः उसने चीन को नींद से जगाकर उसे अपनी निर्बलता बता देना उचित समझा। जापान चाहता था कि एशिया की जो भूमि अब तक यूरोपियनों से बची है वहाँ उन्हें न बढ़ने दिया जाय और इस कार्य के लिये चीन को भी अपने नेतृत्व में लिया जाय। परन्तु कोरिया के प्रश्न पर दोनों में मतभेद हो गया। चीन की पुराने ढंग की भारी सेना अपने पड़ोसी की छोटी सी, चुस्त तथा नवीन शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित सेना के आगे ठहर न सकी। चीनी सेना कोरिया से भगा दी गयी और जापानियों ने मंचूरिया प्रान्त में प्रवेश कर पोर्ट आर्थर के दृढ़ दुर्ग पर अधिकार कर लिया और पेकिन की ओर प्रस्थान किया। राजधानी को संकट में समझ कर चीनियों ने सन्धि करली जिसमें उन्हें पोर्ट आर्थर तथा उसके पास का प्रायद्वीप और युद्ध का सारा व्यय जापान को देना पड़ा और कोरिया की स्वतंत्रता स्वीकार करनी पड़ी। फारमूसा तथा कुछ अन्य द्वीप भी जापान को मिले।

परन्तु जापान की इस विजय के समय यूरोपीय शक्तियों ने हस्तक्षेप किया। जापान की एशिया में वृद्धि रूस के लिये हानिकर थी और रूस की वृद्धि जापान के लिये। रूस धीरे २ अपना

अधिकार दक्षिण की ओर बढ़ाता जाता था और १८९१ में उसने समस्त साइबेरिया में पश्चिम से पूर्व तक रेल बनाना आरम्भ कर दिया था। रूस ने जापान से हाल में मिले हुए स्थानों को छीनने के लिये फ्रान्स और जर्मनी को भी अपनी ओर मिला लिया। शक्तियों ने सूचना दी कि शान्ति और न्याय की दृष्टि से यह आवश्यक है कि चीन-जापान-संधि पर फिर विचार किया जाय। जार ने मिकाड़ो को लिखा कि जापान पोर्ट आर्थर तथा उसके पास का प्रायद्वीप खाली कर दे। जापान को इस प्रस्ताव से बड़ा धक्का लगा परन्तु उसने यूरोपीय शक्तियों का सामना करना मूर्खता समझ कर उनकी बात मान ली और प्रायद्वीप से अपनी सेना हटा ली। साथ ही रूस से अति क्रुद्ध होकर उसने अपनी सेना तथा जलसेना को बढ़ाना आरम्भ कर दिया।

जापान को निकाल कर रूस ने स्वयं इस प्रायद्वीप में भी रेल बनाने की अनुमति चीन सरकार से प्राप्त कर ली और उसकी रक्षा के लिये कई लाख की एक बड़ी सेना वहाँ रख दी और इस भाँति धीरे २ मंचूरिया को अपना प्रान्त बना लिया।

१८९७ में चीन के शान्टंग प्रान्त में दो जर्मन पादरी मारे गये। इससे जर्मनी ने अपनी सेना भेज कर क्याचा बन्दर अपने अधीन कर लिया और शान्टंग पर भी प्रभाव जमाया। इसी समय पोर्ट आर्थर को भी रूस ने पचीस वर्ष के लिये ले लिया और अन्य देशों ने भी इसी भाँति कई बन्दर अपने अधीन कर लिये।

यह आशंका हो चली कि अफ्रीका की भाँति अब चीन भी यूरोपीय शक्तियों में बटना चाहता है। इसको रोकने के लिये

चीन में विदेशियों के विरुद्ध वोक्सरों का आन्दोलन उठा और १९०० तक यह आन्दोलन उत्तर चीन में भी फैल गया। सम्राट् की माता की इस दल से सहानुभूति थी। इन लोगों ने स्थान २ पर विदेशी पादरियों तथा धर्म-प्रचारकों को मारना आरम्भ किया। शीघ्र ही सारा यूरोप यह सुनकर चौंक पड़ा कि पेकिन स्थित सभी यूरोपीय देशों के राजदूत एक चीनी दल द्वारा घेर लिये गये हैं। फिर खबर पहुँची कि उस नगर के सब यूरोपीय लोग क़त्ल कर दिये गये। राजदूतों की रक्षा के लिये शीघ्र ही यूरोप के सब राष्ट्रों तथा अमेरिका ने आपस के भेदभाव मिटाकर एक बड़ी सेना चीन में भेजी जिसने दो मास तक लड़कर वोक्सर आन्दोलन दबा दिया और चीन से हरजाना वसूल किया।

यूरोपीय लोगों के इस प्रभाव तथा मंचूरिया में रूस का अधिकार देखकर जापान मन ही मन जल रहा था। दूसरी ओर मंचूरिया में रूस के अधिकार से वहाँ अन्य यूरोपीय देशों के व्यापार में बाधा पड़ी। अतः उन्होंने रूस से पूछा कि तुम्हारा इरादा क्या है? रूस ने उत्तर दिया कि ज्यों ही यहाँ पर शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित हो जायगी त्यों ही रूसी सेना हटा ली जायगी। परन्तु रूस ने कोई काल नियत नहीं किया इससे यूरोपीय देशों के मन में सन्देह बना रहा। अमेरिका और इङ्गलैण्ड ने उसे कई बार मंचूरिया खाली करने को लिखा भी, किन्तु रूस ने यों ही टाल दिया।

१९०२ में इङ्गलैण्ड ने जापान से सन्धि की जिसका उद्देश पूर्व में शान्ति तथा चीन और कोरिया को अखंडित रखना था। उनमें यह भी समझौता हुआ कि यदि हम दोनों में से किसी को

किसी और देश से युद्ध करना पड़े तो दूसरा देश तटस्थ रहेगा परन्तु यदि कोई तीसरा देश शत्रु की सहायता करे तो इधर भी दोनों देश इङ्गलैण्ड और जापान मिल जायँगे। इसका अर्थ यह था कि यदि रूस और जापान में युद्ध होगा तो इङ्गलैण्ड तटस्थ रहेगा या जापान को सहायता देगा।

इङ्गलैण्ड और जापान की यह सन्धि बड़े महत्त्व की है। एक यूरोपीय तथा एक एशियाई देश में बराबरी के दर्जे की यह प्रथम ही सन्धि है। इससे जापान का आदर बढ़ा और यह प्रकट हुआ कि इङ्गलैण्ड जापान से सन्धि करने का महत्त्व समझता है।

अब चीन तथा मंचूरिया में शान्ति थी। अतः जापान ने रूस से पूछा कि वह मंचूरिया से अपनी सेना कब हटायेगा? परन्तु रूस ने कुछ उत्तर न दिया। सितम्बर १९०३ से फरवरी १९०४ तक लिखापढ़ी चलती रही किन्तु कोई सन्तोषजनक उत्तर रूस की ओर से न मिला। जापान ने यह समझ कर कि शायद रूस मंचूरिया में अपनी सेना बढ़ाने के लिये ही उत्तर देने में देर कर रहा है तथा जब और सेना आ जायगी तब वह वहाँ अपने पूर्ण अधिकार की घोषणा कर देगा—कोरिया में अपनी कुछ सेना भेज दी और पोर्ट आर्थर के पास एक रूसी जहाज़ को भी डुबा दिया। इस भाँति फरवरी १९०४ में रूस-जापान-युद्ध आरम्भ हो गया।

रूस की एक जलसेना पोर्ट आर्थर में थी तथा दूसरी ब्लाडीवास्टक में। जापानियों ने पहली सेना को वहीं घेर रखा। यहाँ बड़ी वीरता का युद्ध हुआ परन्तु अन्त में रूसियों ने जापानी सेनापति

नोगी और एडमिरल टोगों के आगे ११ जनवरी १९०५ को सिर झुका दिया। उधर फील्ड मार्शल ओमाया तथा ओकू ने रूसियों को कोरिया से निकाल कर मंचूरिया से भी खदेड़ना आरम्भ किया। मार्च के आरम्भ में मुकदन स्थान पर भयंकर युद्ध हुआ जैसा १८७० में फ्रांस–जर्मन युद्ध हुआ था। इसमें दोनों ओर के १,२०,००० मनुष्य मारे गये। अन्त में जापान की विजय रही और उन्होंने ४०,००० रूसियों को क़ैद कर लिया।

इस भाँति रूस की दृढ़ सेना तथा जलसेना नष्ट हो गयी। परन्तु शीघ्र ही उसने एक दूसरी सेना भेजी जिसने कोरिया में जनरल टोगो का सामना किया किन्तु वह भी हार गयी और उसके कई जहाज़ छिन गये।

अन्त में अमेरिका के प्रेसीडेन्ट रूज़वेल्ट के प्रयत्न से रूस और जापान दोनों ने सन्धि की बातचीत करने के लिये अपने २ प्रतिनिधि अमेरिका भेज दिये। ५ सितम्बर १९०५ को पोर्टस-माउथ स्थान पर संधि-पत्र तैयार हुआ और दोनों ने उसे मान लिया। इसके अनुसार कोरिया स्वतंत्र माना गया परन्तु वहाँ जापान का प्रभुत्व स्वीकार किया गया। मंचूरिया को दोनों ने खाली कर दिया। रूस ने पोर्ट आर्थर तथा उसके पास का प्राय-द्वीप फिर जापान को वापस दे दिया और शाखालिन द्वीप का दक्षिणी आधा भाग भी जापान को देना स्वीकार किया।

इस युद्ध के कई परिणाम हुए। जापान अब संसार की महाशक्तियों में गिना जाने लगा। एक यूरोपीय देश को पछाड़ कर उसने एशिया का मुख उज्वल कर दिया और यूरोपीय देशों

में आतंक जमा दिया। एशिया में यूरोपीय देशों की वृद्धि रुक गयी तथा यह निश्चित हो गया कि पीली जाति, श्वेतजाति के अधीन नहीं होगी तथा भविष्य में वह इतिहास में स्वतंत्र भाग लेगी।

रूस के ऊपर जापान की विजय का चीन पर भी बड़ा प्रभाव पड़ा। वहाँ भी राष्ट्रीय भाव जागृत हुए और शिक्षा, आचार-विचार तथा शासन-प्रबंध में सुधार हुए। पुरानी शिक्षा का ढंग बदल गया और पश्चिमी ढंग पर नयी शिक्षा प्रचलित की गयी। जापान, अमेरिका तथा यूरोप के विद्यालयों में सहस्रों चीनी नवयुवक भेजे गये। सम्राट् की माता जो पहले सब सुधारों के विरुद्ध थी अब उन्हें उत्साहपूर्वक प्रचलित करने लगी। यूरोप के ढंग पर एक नयी सेना भी तैयार की गयी और सेना के लिये लोगों की रुचि बढ़ी। लड़कियों के स्कूल तथा रेलों का भी प्रचार हुआ।

चीन में शासनसुधार के लिये भी इसी समय में जोर दिया जाने लगा। सन् १९०५ में प्रतिनिधि-शासन-प्रणाली का मनन करने के लिये यूरोप में एक कमेटी भेजी गयी और उसकी रिपोर्ट पर सरकार ने १९०७ में वहां पर वैध-शासन स्थापित करने का वचन दिया परंतु १९१२ में वहां का मंचूवंश, देश में उदार विचारों के प्रचार के कारण गद्दी से उतार दिया गया जो १६४४ से राज्य कर रहा था, तथा वहाँ डाक्टर सनयाटसेन के नेतृत्व में प्रजातंत्र की स्थापना हुई।

चौदहवाँ अध्याय

उन्नीसवीं शताब्दी की विशेषतायें

उन्नीसवीं शताब्दी भी इतिहास में एक क्रान्तिकारी समय है। इसमें शासन-प्रबन्ध, जीवन-यापन तथा साधारण ज्ञान आदि अनेक बातों में महान् परिवर्त्तन हुए। राजनैतिक तथा सामाजिक आचार विचार में बहुत उन्नति हुई तथा अनेक बातों में लोगों की चित्तवृत्ति में परिवर्त्तन हुए।

पश्चिमी संगीत की इस शताब्दी में अपार उन्नति हुई। इसी भाँति साहित्य तथा उदार विचारों का प्रचार हुआ, जिससे पाश्चात्य देशों में दयाभाव उत्पन्न हुआ। अंगहीन तथा दुःखी लोगों की सेवा के भाव जागृत हुए जिसके फल-स्वरूप दास-व्यापार बन्द किया गया तथा अनेक स्कूल, अनाथालय और अस्पताल खुले।

विज्ञान की भी इस युग में बहुत उन्नति हुई। भौतिक रसा-यन, ज्योतिष, भूगर्भशास्त्र तथा वेदान्त आदि सभी में नए २ आविष्कार हुए जिनसे मनुष्य-समाज का बहुत हित हुआ। इन सबसे महत्त्वपूर्ण भाफ़ का आविष्कार है। यद्यपि यह आविष्कार जेम्स वार्ट ने अठारहवीं शताब्दी के अन्त में किया था, परन्तु यह सम्पूर्णता को इसी शताब्दी में पहुँचा। अबतक संचालन-शक्ति पशुओं, वायु, तथा जल-प्रपातों से ली जाती थी परन्तु अब यह शक्ति भाफ़ से उत्पन्न की गयी। १८३० में जार्ज स्टीफ़न्सन ने रेलगाड़ी सफलतापूर्वक चलायी तथा कुछ वर्ष

बाद तार का आविष्कार पूरा हुआ। इसी समय भाफ़ द्वारा समुद्र में जहाज़ चलाये गये। ये सब आविष्कार भी उतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने वे आविष्कार थे जिन्होंने मध्य यूरोप को नवीन काल अलग किया था।

औद्योगिक उन्नति

इसके कुछ ही दिन बाद मोटर, बिजली द्वारा रेलगाड़ी चलाना, तथा वायुयान आदि के आविष्कार हुए। इसी भाँति और भी अनेक वैज्ञानिक खोजें हुई, जिन्होंने औद्योगिक जगत में क्रांति उत्पन्न कर दी।

इन आविष्कारों तथा मशीनों के प्रचार से उद्योग तथा व्यापार में बहुत उन्नति हुई। अबतक दस्तकारी तथा कारीगरी प्रायः हाथ से ही होती थी जिसे घर पर बैठ कर स्त्रियाँ तथा अवकाश के समय पुरुष भी किया करते थे। प्रायः प्रत्येक नगर तथा ग्राम अपने व्यवहार की सारी वस्तुएँ स्वयं ही तैयार करता था। रेल, डाक आदि न होने से बाहरी व्यापार नाव, घोड़े तथा गाड़ी आदि पर ही होता था।

परन्तु भाफ़, आर्कराइट तथा हरग्रीव के चरखे और करघे आदि के आविष्कार से माल बहुत जल्द तैयार होने लगा। उसका परिमाण सैकड़ों गुना बढ़ गया। गृह-शिल्प को धक्का लगा और उसका स्थान कारखानों ने ले लिया जहाँ हज़ारों आदमी इकट्ठे काम करने लगे। इस भाँति अनेक नये नगर बसे, क्योंकि कारखानों में नित्यप्रति दूर २ से काम करने आना और फिर अपने २ गाँवों को लौटना कष्टप्रद था। स्त्रियों का रोज़गार छिन जाने से उन्हें भी इन्हीं कारखानो में आकर काम करना पड़ा जिससे

उनका जीवन दुःखमय हो गया, क्योंकि उनके साथ उनके बच्चों को भी काम करना पड़ता था, जिनसे कारखानेवाले बहुत अधिक काम लिया करते थे।

इस बढ़े हुए तैयार माल की खपत करने तथा उसे तैयार करने को कच्चा माल प्राप्त करने के लिये नये देशों की आवश्यकता थी इसलिये यूरोपीय देशों ने अन्य देशों पर अधिकार कर लिया।

इन्हीं आविष्कारों के कारण अनेक वस्तुएँ सस्ती हो गयीं जिन्हें ग़रीब भी प्राप्त कर सकते थे। इस भांति जीवन-निर्वाह सस्ता हो गया। परंतु अब फिर कुछ दिनों से प्रत्येक वस्तु मँहगी हो गयी हैं। कुछ लोगों का कथन है कि मशीनों के प्रचार से बहुतों का रोजगार छूट गया। अतः उनके लिये जीवन-निर्वाह और भी अधिक कठिन तथा मँहगा हो गया है।

व्यापार और उद्योग की उन्नति ही से धनिकों और पूँजीपतियों की एक श्रेणी उत्पन्न हो गयी है। इस भाँति औद्योगिक श्रेणी के दो भाग हो गये—धनवांन कारखानेदार जो उत्पादन के लिये धन लगाते हैं तथा श्रमजीवी अर्थात् मज़दूर जो अपना तन लगाते हैं। उत्पादन के लाभ का उचित बँटवारा न होने के कारण श्रमजीवियों और धनिकों में अनेक झगड़े उत्पन्न हो गये हैं।

राजनैतिक परिणाम—फैक्टरियों में बहुत से मनुष्य इकट्ठे काम करने लगे इसलिये नगरों की उत्पत्ति हुई। कृषक लोग खेती छोड़कर उद्योगी बन गये। नागरिक जीवन ने पश्चिम में सदा प्रजासत्ता के विचारों को उत्तेजना दी है। इस समय तक लोग लिखना पढ़ना भी सीख गये थे, इकट्ठे रहने तथा नित्य एक दूसरे से मिलने और विचार विनिमय करने से शीघ्र ही इनमें नये

ज़माने का प्रभाव दिखाई देने लगा। इस भाँति नगरों के रहने वाले प्रजातंत्र के पक्षपाती हो गये। मध्यकाल में भी नगरों के कारण ही राजनीति का प्रचार हुआ था।

जब नगर के लोगों ने श्रमजीवियों को कष्ट सहते और पूंजीपतियों को पड़े २ मोटे होते देखा तो उन्हें उत्पादित धन के अन्यायपूर्ण बँटवारे का पता लगा। इस कारण श्रम का महत्त्वपूर्ण अर्थशास्त्रीय प्रश्न उत्पन्न हुआ अर्थात् श्रम तथा पूँजी के संयोग से जो धन उत्पन्न होता है, उसका विभाजन किस प्रकार किया जाय। श्रमजीवी कहते हैं कि हमें अपने श्रम के बदले धन कम मिलता है, अतः वे अपनी मजदूरी बढ़वाने के लिये प्रयत्न, हड़ताल आदि करते हैं। इन विचारों से साम्यवाद का जन्म हुआ जिस के कारण आज संसार अशान्तिमय हो रहा है।

सैनिकता की वृद्धि

विज्ञान की उन्नति का एक बड़ा भयंकर तथा दुखदायी परिणाम भी हुआ है। प्रशा ने नये आविष्कारों के बल पर एक बड़ी प्रबल सेना तैयार की तथा और भी कई देशों ने उसका अनुकरण किया। इस भाँति प्रायः समस्त यूरोप सेना तथा शस्त्रास्त्रों से सुसज्जित हो गया। इससे उसका व्यय बहुत बढ़ गया। ज्यों २ नये आविष्कार होते गये त्यों२ उसका व्यय भी बढ़ता गया। यदि कोई नया शस्त्र चला अथवा किसी अन्य संहारक साधन की खोज की गयी तो यूरोपीय देशों ने व्यय का कुछ विचार न कर उसे तैयार करना स्वीकार किया। इस भाँति पुराने शस्त्रास्त्र प्रयोग में आने से पहले ही ख़ारिज हो गये। बड़े २ भारी जहाज

बनाये गये। टारपीडो तथा पनडुब्बियाँ भी बनी तथा वायुमण्डल पर अधिकार करने के लिये अनेक वायुयान बने। तीन तीन, चार चार लाख रुपयों की एक एक तोप बनी जिसको एक बार चलाने में ही तीन चार हजार रुपयों का व्यय होता था। ये तोपें बीस पच्चीस मील तक गोले बरसा सकती हैं। इस प्रकार सभी यूरोपीय देश सैनिक तैयारियाँ करते रहे परन्तु १९०० से आठ दस वर्ष तक यूरोप में कोई बड़ा युद्ध न हुआ। अतः यह समय 'शस्त्र-सज्जित शान्ति' का समय कहा जाता है। इन दिनों यूरोप का सैनिक व्यय प्रतिवर्ष पचास करोड़ रुपये से अधिक कूता गया था।

इन तैयारियों से डर कर रूस ने इन्हें बन्द करने का विचार किया। १८९८ में जार निकोलस द्वितीय ने सब देशों में स्थायी शान्ति का विचार करने तथा राष्ट्रों की सैनिक तैयारियाँ रोकने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय सभा करने का प्रस्ताव किया। उसने कहा कि अन्तर्राष्ट्रीय नीति का उद्देश शान्ति बनाये रखना है किन्तु राष्ट्रों ने मिलकर गुट बना लिये हैं, दिन रात सेना की वृद्धि हो रही है, जन-संहारक कलों का आविष्कार हो रहा है, राष्ट्रीय शिक्षा, आर्थिक उन्नति तथा उत्पादन आदि पर पाला पड़ रहा है। राष्ट्रों ने अपनी सैनिक शक्ति को इतना बढ़ाया है जितना पहले कभी नहीं बढ़ाया था, तथा अभी वे उसे बढ़ाते जाते हैं, और ज्यों २ उनकी सैनिक शक्ति बढ़ती जाती है वे अन्तर्राष्ट्रीय उद्देशों की ओर ध्यान कम करते जाते हैं। आर्थिक संकट के कारण यह शान्ति भी लोगों को असह्य हो रही है। यदि यही स्थिति रही तो यह अनिवार्य मालूम होता है कि शीघ्र ही ऐसी

भयंकर स्थिति उत्पन्न हो जायगी जिसका ध्यान आते ही हम काँपने लगते हैं और जिसको बचाना हमारा उद्देश है ?

इस प्रस्ताव पर संसार के ५९ राजाओं में से २६ ने अपने १०० प्रतिनिधि भेजे और १८ मई १८९९ को नीदरलैंड्स में हेग स्थान में यह सभा बैठी। इसमें चीन, जापान, फारस, श्याम, अमेरिका, मेक्सिको तथा यूरोप की बीस रियासतें सम्मिलित थीं।

रूसी प्रतिनिधियों ने कहा कि इस समय जितना व्यय हो रहा है, उतना बड़े २ युद्धों में भी नहीं हुआ। प्रजा दरिद्रता से मरी जाती है। अतः उन्होंने सैनिक व्यय कम करने पर बहुत जोर दिया। जर्मन प्रतिनिधि ने इसका विरोध किया। उसने कहा 'मैं यह विश्वास नहीं कर सकता कि यहाँ पर उपस्थित मेरे आदरणीय मित्रों में कोई भी यह कहने को तैयार होगा कि उसका राजा अथवा उसकी सरकार अपने देश को नष्ट करने के उद्योग में लगी हुई है। जर्मनी के संबंध में मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि आप कुछ चिन्ता न करें। जर्मनी के लोग अपव्यय अथवा करों के भार से नहीं दबे बल्कि वहाँ संपत्ति बढ़ रही है और देश प्रति वर्ष अधिक समृद्ध होता जाता है। अनिवार्य सैनिक शिक्षा को जर्मनी अपना कर्तव्य समझता है।'

इसी भाँति और २ राष्ट्रों ने भी भिन्न २ विचार प्रकट किये। अतः एक मत न होने से सभा कोई सर्व-मान्य निर्णय न कर सकी। सैनिक वृद्धि की कोई सीमा न बाँधी जा सकी। फिर भी उसने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निबटारे के लिये एक पञ्चायत नियत कर दी जिसमें प्रत्येक राष्ट्र के चार सुचतुर, न्यायी, विद्वान्

नियत किये गये। उसने सैनिक व्यय कम करने की सिफ़ारिश की।

बीसवीं शताब्दी का आरम्भ युद्धों से हुआ, यद्यपि वे यूरोप में नहीं थे। रूस मंचूरिया में लड़ रहा था तथा इङ्गलैंड ट्रान्सवाल के बोअर-युद्ध में फँसा था। अतः हेग सभा का श्रम व्यर्थ होता मालूम हुआ।

फिर १९०७ में निकोलस के ही आमंत्रण पर हेग की दूसरी सभा हुई। इसमें संसार के ५७ स्वतन्त्र राजाओं में से ४४ के प्रतिनिधि उपस्थित थे। यह वृद्धि अमेरिका की १९ नयी रियासतों के सम्मिलित होने से हुई।

इस सभा ने युद्ध के ढंगों को नियत करने का प्रयत्न किया जिससे लोगों की जान क्रूरतापूर्वक न ली जाय। फिर उसने अन्तर्राष्ट्रीय-विधान के कुछ अंशों की स्पष्ट व्याख्या भी की परन्तु वह प्रधान उद्देश निःशस्त्रीकरण तथा सैनिक वृद्धि की रोक में फिर भी असफल हुई। पहले की भाँति वह केवल एक प्रस्ताव पास कर सकी कि सैनिक व्यय बहुत बढ़ रहा है। अतः प्रत्येक सरकार को उचित है कि वह इस पर विचार करे।

इस प्रस्ताव पर किसी ने ध्यान न दिया। छोटे २ राष्ट्रों इटली, आस्ट्रिया तथा बलगेरिया आदि ने भी ड्रेडनाट नाम के नये जहाज़ बनाना आरम्भ किया और इधर इङ्गलैंड, जर्मनी, अमेरिका आदि महाशक्तियाँ और भी अधिक तैयारियाँ करती गयीं तथा व्यय बढ़ाती गयीं।

फिर भी बहुत लोगों की शांति की आशा दूर न हुई। उन्होंने कहा कि शांति धीरे २ ही स्थापित हो सकेगी। १८९९ की सभा ने यही क्या थोड़ा किया कि एक अन्तर्राष्ट्रीय पंचायत

बोर्ड की स्थापना कर दी। उन्हें आशा थी कि आगे की कांफ्रेंस सैनिक-व्यय घटाने में और भी अधिक सफल होगी। इसी विचार से हेग में एक अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-मन्दिर की स्थापना हुई।

इस मन्दिर के निर्माण के लिये स्काट धन-कुबेर अंड्रू कारनेगी ने पहले पहल ४५ लाख रुपये दिये। डच पार्लमेन्ट ने ८ लाख ४० हज़ार रुपये भूमि के लिये दिये। नार्वे और स्वीडन ने दीवारों के निम्न भाग के लिये पत्थर दिये। डेनमार्क ने बाग़ का फ़व्वारा बनवाया। हालैण्ड ने ईंटें दीं और सभी सीढ़ियाँ बनवाईं। इटली ने बरामदों के लिए संगमरमर और ब्रिटेन ने खिड़कियों और दरवाजों के लिये रंगीन काँच दिये। रंग, पच्चीकारी तथा चित्रकारी फ्रांस ने करायी। रूस ने एक सुन्दर गुलदान, हंगरी ने शमादान, और आस्ट्रिया ने बहुमूल्य रकाबियाँ, अमेरिका ने काँसे और संगमरमर की मूर्तियाँ, चीन ने उत्तमोत्तम प्याले, और जापान ने रेशम पर के उत्तमोत्तम चित्र दिये। ब्राज़िल ने लकड़ी देकर दरवाजे बनवाये, हेटी के हबशी प्रजातंत्र ने कुर्सियाँ, मेजें आदि दीं। रूम और रोमानिया ने दरी आदि बिछवाईं, स्वीजरलैण्ड ने धरहरे के लिये धर्मघड़ी, बेलजियम ने लोहे के किवाड़, युयुत्सु जर्मनी ने बाहर के फाटक, और आस्ट्रेलिया ने सभापति के लिये मेज़ बनवाई। (भारी भ्रम) इस भाँति यह शांति-मन्दिर पूर्ण हुआ।

परन्तु यह मन्दिर भी अपना प्रधान उद्देश पूरा न कर सका जैसा कि आगे की घटनाओं से स्पष्ट हो जायगा।

इस भाँति उन्नीसवीं शताब्दी समाप्त हुई और बीसवीं आरम्भ हुई जिसकी सबसे प्रधान घटना १९१४-१८ का महा-

युद्ध है। अतः आगे के अध्यायों में हम उसके कारणों पर पूर्ण रूप से विचार करेंगे।

पन्द्रहवाँ अध्याय

जर्मनी की उन्नति

१८७० के युद्ध के बाद आकर्षण का केन्द्र पेरिस से बदल कर बर्लिन हो गया। वहाँ १८७१ से १८८८ तक विलियम प्रथम का राज्य रहा। उसके राज्य का पूर्वार्ध आन्तरिक सुधार करने तथा रोमन कैथोलिकों से झगड़ने में बीता तथा उत्तरार्द्ध में उस ने देश के व्यापार, उद्योग आदि पर ध्यान दिया और उपनिवेशों पर अधिकार करने का प्रयत्न किया।

जर्मनी की एकता पूर्ण होते ही वहाँ धार्मिक झगड़े आरम्भ हो गये। वहाँ पर बहुत दिनों से दोनों धर्मवाले लोग रहते थे। प्रशा में प्रोटेस्टैन्ट लोगों का प्रभुत्व था तथा दक्षिणी राज्यों में कैथोलिक अधिक थे और पार्लमेन्ट में भी उनकी संख्या बढ़ती जाती थी। कैथोलिक लोग बिस्मार्क की नीति के विरोधी थे। वे जर्मनी में आस्ट्रिया को भी सम्मिलित करना तथा पोप का प्रभुत्व स्थापित रखना चाहते थे। बिस्मार्क ने उन्हें दबाने के लिये रोमन कैथोलिक गिर्जे को राज्य के अधीन करके उसे राजनैतिक शक्ति से रहित करना चाहा। कैथोलिक पादरियों और शिक्षकों ने इस नीति का विरोध किया और अपने विरोधियों के विवाहादि कर्म कराना भी बन्द कर दिया। इसके उत्तर में बिस्मार्क ने १८७२ में रोम से राजनैतिक सम्बन्ध तोड़ दिया। पादरियों को

शिक्षा का प्रबन्ध अपने हाथ में लिया तथा ऐसे नियम बनाये जिनसे कैथोलिक धर्म पूर्णतया राज्य के अधीन हो गया अर्थात् अब पादरी किसी को धर्म से बहिष्कृत नहीं कर सकते थे। नियुक्ति से पहले उन्हें एक सरकारी पुजारियों का इम्तहान पास करना पड़ता था तथा जर्मन विश्वविद्यालय में तीन वर्ष तक धर्मशास्त्र पढ़ना पड़ता था। उन्हें नियत करना तथा निकालना सरकार के हाथ में था तथा उन्हें सरकारी कार्यों में हस्तक्षेप करने का अधिकार न रहा। पुराने सब धार्मिक दल भी तोड़ दिये गये।

परन्तु पोप पायस नवाँ तथा अनेक अन्य कैथोलिकों ने इन नियमों को अस्वीकार कर दिया और उनकी बहुत निन्दा की। प्राश के दस हजार पादरियों में से केवल तीस ने राज्य की अधीनता स्वीकार की। आठ सौ गिर्जों में प्रार्थना ही बन्द कर दी गयी। इस पर सरकार ने अनेकों पर जुर्माने किये, अनेकों की तनख्वाह बन्द की तथा अनेकों को देश से निकाल दिया। नगरों तथा गांवों में इस भांति सब गिर्जे तथा मठ खाली हो गये। न वहां कोई जातकर्म, विवाहादि करने के लिये पुरोहित था, न प्रार्थना करने के लिये।

अन्य आर्थिक तथा सामाजिक झगड़ों के कारण बिस्मार्क ने इस ओर से निवृत्त होना चाहा। उसे एक ऐसी शक्ति का भी सामना करना था जो उसके स्थापित समस्त ढांचे को जडमूल से ही नष्ट कर देना चाहती थी। यह क्रान्तिकारी शक्ति साम्यवादी लोगों की थी जो हाल ही में कार्ल मार्क्स तथा लेसली के उपदेशों के कारण उत्पन्न हो गयी थी। इस आन्दोलन की बड़ी तीव्रता से उन्नति हुई। सन् १८४२ में जर्मनी के एक प्रोफेसर ने कहा था

कि जर्मनी को इस आन्दोलन से बिलकुल भय नहीं है क्योंकि यहाँ पर श्रमजीवी दल अलग नहीं है, किन्तु पचीस वर्ष के अन्तर्गत ही इंगलैंड और फ्रांस के समान जर्मनी में भी भारी औद्योगिक क्रान्ति हुई। बड़े २ कारखानोंवाले नगर बस गये तथा शीघ्र ही श्रम और पूंजी के झगड़े वहां आरम्भ हो गये। सन् १८७७ तक साम्यवादी दल में वहाँ पांच लाख मनुष्य हो गये। इस दल के भय से बिस्मार्क ने कैथोलिकों के विरुद्ध बनाये हुए सब नियमों को धीरे २ रद्द कर दिया। इस भाँति अन्त में कैथोलिक लोगों की विजय रही।

अब बिस्मार्क ने सारी शक्ति साम्यवादियों को कुचलने में लगा दी जिनको वह अपना तथा महाराज विलियम का शत्रु समझता था क्योंकि इन लोगों ने फ्रांस से युद्ध करने तथा अलसेस-लारेनको जर्मनी में मिलाने का विरोध किया था। इन्होंने महाराज विलियम को मार डालने का भी प्रयत्न किया था तथा फ्रांस की भाँति जर्मनी में भी प्रजातंत्र स्थापित करने की इच्छा प्रकट की थी।

१८७८ में पार्लमेंट के एक कानून द्वारा साम्यवादियों की सभाएँ तथा जलसे आदि बन्द कर दिये गये और इस दल के समर्थक पत्र भी बन्द कर दिये गये। पुलिस को किसी सन्दिग्ध मनुष्य को पकड़ने, दण्ड देने तथा देश-निकाला देने का भी अधिकार मिल गया। इस नियम के कारण बारह वर्ष में ९०० मनुष्य देश-निर्वासित किये गये और १५०० को कारागार का दण्ड भोगना पड़ा। परन्तु सदा की भाँति यहाँ भी दमन निष्फल हुआ। चुपचाप साम्यवाद का खूब प्रचार होता रहा। इनका एक पत्र स्विज़रलैंड में निकलता था और पुलिस की

कड़ी निगरानी रहते हुए भी उसकी अनेक प्रतियाँ प्रतिदिन जर्मनी के कारखानों में काम करनेवालों के हाथों में पहुँच जाया करती थीं। पार्लमेंट के निर्वाचित सदस्यों में भी उनकी संख्या बढ़ती जाती थी।

इन बातों से बिस्मार्क को यह प्रकट हो गया कि जब तक श्रमजीवियों की अवस्था को न सुधारा जायगा तब तक दमन की नीति सफल न होगी क्योंकि यदि श्रमजीवी लोग सन्तुष्ट रहेंगे तो साम्यवादियों के उपदेशों को सुनेंगे ही क्यों ? अतः उसने श्रम-जीवियों के हित के नियम बना कर उन्हें अपनी ओर मिलाया। इसी समय ज़र्मनी में अर्थशास्त्रियों का एक नया दल उत्पन्न हो गया था जिनका कहना था कि सरकार को राज्य की आर्थिक नीति में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। अतः सरकार साम्य-वादियों के कुछ प्रस्तावों को स्वीकार करके अपनी ओर से मज़दूरों के हित के नियम बनावे। इस दल का कार्य-क्रम भी मज़दूरों की दशा सुधारना, उन्हें उचित मज़दूरी दिलाना, समाज के भिन्न २ अंगों में मित्रता स्थापित करना आदि था। यह दल स्टेट सोशलिस्ट के नाम से प्रसिद्ध है।

इन बातों को स्वीकार कर १८८१ में एक सरकारी विज्ञप्ति प्रकाशित हुई कि राज्य का कर्तव्य है कि मज़दूरों की दशा सुधारे, सामाजिक बुराइयों को दूर करे, तथा सर्व-साधारण और विशे-षतया निर्बलों की समृद्धि के उपाय सोचे। अतः मज़दूरों की बीमारी, वृद्धता तथा अशक्तता आदि के समय उन्हें सरकार से सहायता दी जायगी।

इस भाँति बिस्मार्क ने श्रमजीवियों के कष्ट दूर करके अपनी

अनुपम चातुरी का परिचय दिया। अतः वह उन्नीसवीं शताब्दी के सब से बड़े सुधारकों में गिना जाता है।

किन्तु साम्यवादियों ने उसके सुधारों को अपर्याप्त बता कर उनका विरोध किया। लोगों का असन्तोष दूर न हुआ। अतः साम्यवाद का प्रचार वहाँ बढ़ता गया जिससे अन्त में १९१८ की क्रान्ति हुई।

बिस्मार्क की आर्थिक नीति बहुत महत्वपूर्ण है। पहले वह निर्बन्ध व्यापार का पक्षपाती था परन्तु १८७९ में उसने इस नीति को त्याग कर आयात वस्तुओं पर कर लगा दिया। बाहर से आनेवाले अनाज पर कर लगाने से जर्मनी के किसानों को तो लाभ हुआ किन्तु उसकी मँहगी के कारण मजदूरों को हानि हुई। अतः उनके असन्तुष्ट होने से साम्यवाद की वृद्धि हुई।

इस नीति-परिवर्तन का कारण यह था कि जर्मन साम्राज्य की आमदनी का प्रधान साधन केवल कस्टम का महकमा था। अतः बिस्मार्क को आमदनी की स्थायी वृद्धि का जरिया भी यही दिखाई दिया क्योंकि फिर उसे न अन्य आश्रित रियासतों से रुपया माँगने की आवश्यकता रहती और न प्रजा पर कर बढ़ाने की। आनेवाली वस्तुओं पर कर लगाने से आमदनी बहुत बढ़ जाती। फिर कुछ लोग देश के उद्योग धन्धों को रक्षित रखने के लिये भी जोर दे रहे थे जिसका सबसे अच्छा साधन बाहर से आनेवाली वस्तुओं पर कर लगाना है। बिस्मार्क ने भी समझ लिया कि राष्ट्र के बलवान होने के लिये धनवान होने की आवश्यकता है और धनवान होने के लिये देश के उद्योग धन्धे बढ़ना चाहिये जो केवल संरक्षण द्वारा ही संभव है। इस नीति से जर्मनी के उद्योग धन्धे बहुत बढ़े और उसे बहुत लाभ हुआ।

बिस्मार्क की विदेशी नीति बहुत प्रसिद्ध है। उसने देखा कि फ्रांसीसियों ने अल्सेस और लारेन की हानि को अपना राष्ट्रीय अपमान समझा। अतः जर्मनी और फ्रांस का मतभेद दूर होना बहुत कठिन है। उसने यह भी देखा कि फ्रांस ने १८७० की भारी क्षति को थोड़े ही दिनों में पूरा कर लिया और फिर सैनिक तैयारियाँ जोर शोर से आरम्भ कर दी हैं। जनरल मोल्टके ने यही देख कर कहा था—'गत महायुद्ध में हमने सम्मान प्राप्त किया है परन्तु प्यार प्राप्त नहीं किया। जो कुछ हमने शस्त्र-बल से छः महीने में जीत लिया है उसकी शस्त्रबल से ही हमें पचास वर्ष तक रक्षा करनी पड़ेगी।'

यही बातें सोच कर बिस्मार्क चाहता था कि फ्रांस का ध्यान जर्मनी की ओर से फेर कर दूसरी ओर लगाया जाय। अतः उसने फ्रांस का ध्यान उपनिवेशों की ओर दिलाया। विशेष कर ट्यूनिस की ओर जहाँ इटलीवाले अपना अधिकार करना चाहते थे। इसका उद्देश यह था कि इटली और फ्रान्स में द्वेष बढ़ेगा और जर्मन साम्राज्य शान्तिमय बना रहेगा। वह यह भी चाहता था कि फ्रांस को कोई मित्र न मिले। अकेले फ्रांस से उसे अधिक भय नहीं था।

सेडान युद्ध से पहले ही बिस्मार्क जानता था कि इटली फ्रांस के उपकारों से दबा है। जर्मनी से निकाले जाने के कारण आस्ट्रिया जर्मनी से क्रुद्ध है तथा रूस अपने पड़ोस में जर्मन शक्ति का उदय देखकर शंकित हो रहा है। अतः उसे भय था कि कहीं ये सब शक्तियाँ मिलकर उससे सेडान की विजय का फल छीन न लें।

यह सोचकर उसने इन शत्रु शक्तियों को अपना मित्र बनाना आरम्भ किया। अब आस्ट्रिया ने जर्मनी में फिर शक्ति प्राप्त करने की आशा छोड़ कर पूर्वी शक्ति बनने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। वह बालकन प्रायद्वीप में अपना प्रभुत्व जमाना चाहता था, परन्तु वहाँ की स्लाव जातियों के विरुद्ध—जिनका रूस बड़ा पक्षपाती था—वह अकेला नहीं ठहर सकता था। उसे किसी मित्र की आवश्यकता थी।

उधर रूस और प्रशा में भी उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही मित्रता चली आती थी। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया और रूस को यह बात जँचा दी थी कि पेरिस कम्यून की क्रान्तिकारी अशान्ति के कारण ही जर्मनी में साम्यवाद तथा रूस में निहिलिज्म की उत्पत्ति हुई है जिससे समस्त यूरोप के राजाओं को धक्का पहुँचने की आशंका है। अतः तीनों सम्राटों ने मिल कर बर्लिन में एक पवित्र-संघ की स्थापना की जिसका उद्देश नवीन निर्धारित सीमाओं की रक्षा करना तथा क्रान्तिकारी आन्दोलनों को दबाना था। इस भाँति बिस्मार्क ने दो सम्राटों को अपनी ओर मिला लिया। दूसरे वर्ष इटली के राजा विक्टर एमैनुएल ने भी बर्लिन यात्रा करके मित्रता के भाव प्रदर्शित किये। इस प्रकार फ्रान्स अकेला रह गया।

किन्तु १८७५ में यह स्थिति बदल गयी। बालकन के एक देश हर्जेगोविना में विप्लव हुआ। १८७८ की बर्लिन कांग्रेस में जर्मनी ने आस्ट्रिया से मिल कर उसे बालकन के एक दूसरे प्रान्त बोसनिया पर अधिकार करने के लिये उसकाया। वहाँ रूस और आस्ट्रिया के स्वार्थों का संघर्षण हुआ। १८७० के युद्ध में रूस

ने फ्रान्स से न मिल कर जर्मनी को भारी सहायता दी थी जिससे जर्मनी की विजय हुई। अब उसकी इस प्रकार अकृतज्ञता से रूस बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने जर्मनी को लिखा कि या तो वह आस्ट्रिया को सहायता न दे या रूस से मित्रता छोड़ दे। इसके उत्तर में जर्मनी ने १८७९ में आस्ट्रिया से और पक्की सन्धि कर ली। अतः रूस ने फ्रान्स की ओर मित्रता का हाथ बढ़ाया। बिस्मार्क ने आस्ट्रिया की मित्रता को रूस की मित्रता से अधिक उपयुक्त समझा क्योंकि जर्मनी और आस्ट्रिया में जातीय सम्बन्ध था।

१८८२ में इटली भी इनमें आकर मिल गया और फिर यह एक त्रिगुट बन गया। यह मेल विचित्र था क्योंकि लैटिन इटली शेष दोनों ट्यूटोनिक जातियों से सब बातों में भिन्न था और इनमें से एक (आस्ट्रिया) ने इटली की एकता में भी पूर्ण बाधा डाली थी तथा उसकी क्रूरता को बहुत से इटली-निवासी अब तक भी न भूले थे। इटली वाले अब भी आस्ट्रिया से अपने कुछ ज़िले लेना चाहते थे। अतः यह मेल स्थायी न हो सकता था। इटली के जर्मनी से मैत्री करने के दो कारण थे। एक तो इटली के राजा तथा पोप में वैमनस्य हो गया था। अतः राजा को डर था कि कहीं फ्रांस इटली में आकर पोप को राज्य गद्दी पर फिर न बिठाल दे, दूसरे फ्रांस के ट्यूनिस पर अधिकार करने के कारण भी इटली उससे क्रुद्ध था। अतः वह फ्रांस के विरुद्ध जर्मनी से मिल गया।

इस भाँति बिस्मार्क ने अपनी नीति से जर्मन साम्राज्य को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयत्न किया। उसने फ्रान्स को अकेला

रखना चाहा परन्तु आस्ट्रिया की मित्रता के लिये उसने रूस को फ्रान्स से मिल जाने दिया। इस प्रकार यूरोप में दो बड़े दल हो गये। एक जर्मनी, आस्ट्रिया तथा इटली का त्रिगुट, दूसरा फ्रान्स और रूस का द्विगुट। दोनों का उद्देश आत्मरक्षण था। यदि जर्मनी और आस्ट्रिया मिल कर किसी और राष्ट्र पर आक्रमण करना चाहें तो इटली उनकी सहायता के लिये वाध्य नहीं था। हाँ, यदि और कोई राष्ट्र आकर जर्मनी, आस्ट्रिया या इटली पर आक्रमण करे तो तीनों का मिल जाना आवश्यक था। इन गुटों ने यूरोप का ध्यान वहुत दिनों तक अपनी ओर लगाये रक्खा और १९१४-१८ के महायुद्ध में इनका वहुत प्रभाव पड़ा।

फ्रान्स और रूस में धीरे २ घनिष्ठता वढ़ती गयी और महायुद्ध के समय तक वनी रही।

विलियम द्वितीय—मार्च १८८८ में विलियम प्रथम का ९१ वर्ष की आयु में देहान्त हुआ और उनका वड़ा पुत्र फ्रेडरिक गद्दी पर वैठा किन्तु वह वीमार था और तीन मास वाद ही मर गया।

फ्रेडरिक के वाद उसके पुत्र विलियम द्वितीय (जर्मनी के वर्तमान राज्य-च्युत कैसर) २९ वर्ष की आयु में गद्दी पर वैठे। ये वड़े चुस्त, पराक्रमी तथा विचारशील थे। इनकी शिक्षा भी अच्छे ढंग से हुई थी तथा इन्हें सेना का वड़ा शौक था। इनका विश्वास था कि सम्राट् ईश्वर का भेजा हुआ दूत है अतः वह पृथ्वी पर पूर्ण स्वतंत्र है और सव लोगों को उसके आगे झुकना चाहिये। अतः यह प्रत्यक्ष था कि इनकी और विस्मार्क की नहीं वनेगी फिर भी विस्मार्क ने स्वयं त्यागपत्र न दिया। दोनों में

आरम्भ से ही मतभेद हो चला और अन्त में उपनिवेशों के प्रश्न पर दोनों में झगड़ा हो गया और विस्मार्क को १८९० में त्याग-पत्र देना पड़ा। वह आठ वर्ष तक और जीवित रहा तथा अपना नाम संसार के सब से बड़े राज-संस्थापकों में लिखा कर १८९८ में मर गया।

अब विलियम द्वितीय ने निरंकुश शासन आरम्भ किया। विस्मार्क के उत्तराधिकारी संचालक केवल उनकी इच्छापूर्ति के साधन थे। विलियम ने आरम्भ में बहुत उदार नीति से शासन किया। विस्मार्क साम्यवादियों के लिये कड़े नियम बनाना चाहता था किन्तु सम्राट् ने उनके साथ दया का वर्ताव करके तथा कुछ राजनैतिक सुधार करके उन्हें सन्तुष्ट करना चाहा। स्वतंत्र होकर साम्यवादियों ने फिर अपनी शक्ति एकत्र की। यह देखकर सम्राट् विलियम उनके विरुद्ध हो गये। फिर भी बहुत दिनों तक उनके विरुद्ध कोई क़ानून न बना।

विलियम ने पार्लमेण्ट को भी अपने अधीन कर लिया और उसे शक्तिहीन बना दिया। मंत्रिमण्डल का उत्तरदायित्व सम्राट् के प्रति हो गया, पार्लमेण्ट के प्रति नहीं। सरकारी नीति के विरुद्ध पार्लमेण्ट में अथवा और कहीं बहस नहीं की जा सकती थी, किन्तु साम्यवादी वोलने की स्वतंत्रता और शासन में सुधार चाहते थे। अतः उनका जोर बढ़ता गया। देश में उनकी संख्या आधे से अधिक हो गयी थी किन्तु पार्लमेण्ट में उनके १२६ मेम्बरों में से केवल ४३ ही पहुँच पाये। इसका कारण यह था कि वहाँ चुनाव की वही प्रथा चली आती थी जो ४०–५० वर्ष पहले थी। तबसे उद्योग की उन्नति के कारण बहुत से नगरों

की जन-संख्या बढ़ गयी थी और ऐसे ही नगरों में साम्यवादियों की संख्या अधिक थी, परन्तु उन्हें जन-संख्या के हिसाब से पार्लमेन्ट के मेम्बर चुनने की आज्ञा नहीं थी।

विलियम के समय में जर्मनी में औद्योगिक तथा व्यापारिक उन्नति बहुत हुई। इन्होंने बाहरी देशों से सन्धियाँ करके अपने देश के बने हुए माल को खूब फैलाया। भारत के बाजार भी महायुद्ध के पहले जर्मनी के माल से भरे रहते थे। इससे जर्मनी बहुत मालदार हो गया और इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका का प्रतिद्वन्द्वी बन गया।

विलियम ने उपनिवेशों पर भी अधिकार करना चाहा और इसके लिये अपनी जल-सेना को बढ़ाना आरम्भ किया। वे जर्मनी को संसार में सर्वशक्तिमान बनाना चाहते थे। अतः आरम्भ से ही उन्होंने प्रतिवर्ष चार नये जहाज बनाने की आज्ञा दे दी।

बिस्मार्क की नीति को छोड़ कर इस नयी नीति के कारण समस्त यूरोप जर्मनी की ओर से शंकित हो गया और उनकी नीति के विरुद्ध भी आवाजें निकलने लगीं।

विदेशी-नीति—१९०४ के रूस-जापान-युद्ध में एक छोटी सी एशियाई शक्ति को दबाने की रूस की असमर्थता देखकर जर्मनी का रूस की ओर से भय दूर हो गया और अब उसने इङ्गलैंड, फ्रांस आदि का अनुकरण करके 'विश्व-साम्राज्य' की नीति का अवलम्बन किया, जिसका तात्पर्य यह था कि अब जर्मनी अपनी नीति के लिये केवल यूरोप को पर्याप्त क्षेत्र नहीं समझता अर्थात् वह यूरोप के बाहर देशों पर भी अधिकार करके 'विश्व-साम्राज्य' स्थापित करेगा। अब तक जर्मनी के पास दक्षिण-

पश्चिमी अफ्रीका, टोगोलैण्ड, न्यूगिनी आदि थे किन्तु औद्योगिक तथा आर्थिक वृद्धि के कारण बढ़ी हुई जन-संख्या के लिये ये पर्याप्त न थे। उसकी जन-संख्या चार करोड़ से बढ़कर साढ़े छः करोड़ हो गयी थी तथा व्यापार और उद्योग तिगुने बढ़ गये थे। अतः नये माल की खपत के लिये उसे नए देशों की आवश्यकता थी।

परन्तु उस समय तक संसार के अच्छे २ भाग यूरोप की अन्य शक्तियों के हाथ आ चुके थे। अतः जर्मनी के लिये लाभ-दायक उपनिवेश नहीं बचे थे।

विलियम ने पहिले पश्चिमी एशिया पर दाँत लगाया जिससे जर्मनी यूरोप के पूर्वी भाग में प्रधान हो जाय। तुर्की पर ज्यों २ इङ्गलैण्ड का प्रभाव घटता गया, जर्मनी अपना प्रभाव बढ़ाता गया। विलियम ने अपने को इस्लाम धर्म का संरक्षक बताया और १८९८ में फिलिस्तीन की यात्रा की और दमिश्क नगर के एक प्रसिद्ध व्याख्यान में घोषणा की कि 'पृथ्वी के भिन्न भिन्न भागों में बिखरे हुए तीस करोड़ मुसलमान इस बात का विश्वास रखें कि जर्मन-साम्राज्य सदा उनका मित्र और हितैषी रहेगा।'

इस घोषणा से यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी पूर्व में अपनी शक्ति दृढ़ करने के लिये इस्लामी शक्ति से सहायता लेगा। उसने धीरे २ डान्यूब, एशिया माइनर तथा मेसोपोटामिया में अपना व्यापार बढ़ाना आरंभ किया। वहाँ जर्मनी की अतिरिक्त संख्या सुखपूर्वक रह सकती थी तथा रेल, नहर, कृषि आदि में रुपया लगाने से बहुत लाभ होता, तथा वहाँ से जर्मनी को कच्चा सामान भी बहुत मिलता। जर्मनी भूमध्यसागर तथा फारस की खाड़ी पर अधिकार करके कास्पियन के पूर्वी भाग तथा भारत पर भी

प्रभुत्व जमाना संभव समझता था। यही सोच कर बर्लिन से फारस की खाड़ी तक रेल भी चली जो १८८८ से १९०३ तक बनती रही।

फ्रांस को अब फिर जर्मनी से भय होने लगा। उसे चिन्ता हुई कि अब ग्रेटब्रिटेन से मैत्री करें या जर्मनी से। दोनों की मैत्री में कुछ न कुछ हानि थी। यदि जर्मनी से मैत्री करे तो उसे अल्सेस-लारेन से सदा के लिये अधिकार छोड़ देना पड़ेगा और ब्रिटेन से मैत्री करने पर मिश्र छोड़ना पड़ेगा। फ्रांस अपने साथी रूस की हार के कारण फिर अकेला रह गया था। अतः उसे मित्र ढूँढ़ने की शीघ्रता थी। उधर जर्मनी के प्रति अविश्वास के कारण इंगलैंड भी किसी मित्र की खोज में था। निदान दोनों ने बड़ी प्रसन्नता से हाथ मिला कर मुद्दतों के उपनिवेश-सम्बन्धी झगड़ों को तय कर लिया। ग्रेटब्रिटेन ने मोरक्को पर फ्रांस का आधिपत्य स्वीकार कर लिया और फ्रांस ने मिश्र में अंग्रेज़ों का। तीन वर्ष बाद १९०७ में रूस भी इधर आ मिला और फिर यह एक त्रिगुट बन गया। अब तक इङ्गलैण्ड रूस के डार्डेनेल्स मुहाने पर अधिकार करने के विरुद्ध था परंतु अब उसने यह विरोध छोड़ दिया। ये घटनाएँ इस बात की साक्षी देती हैं कि राष्ट्र अपने झगड़ों को निबटाने की सच्ची इच्छा होने पर कितनी सरलता से पुरानी शत्रुता को छोड़ कर मित्र बन सकते हैं। संसार के कम से कम आधे युद्ध ऐसे हुए जो द्वेष तथा गलती के कारण से हुए जो चतुरता से काम लेने से पूर्णतया अथवा बहुत कुछ बचाये जा सकते थे।

इस भाँति यूरोप की छः प्रधान शक्तियाँ इस प्रकार बँट गयीं

कि उनमें से किसी दो शत्रु शक्तियों में झगड़ा होने से समस्त यूरोपीय युद्ध की संभावना थी।

मोरक्को के प्रश्न पर अंग्रेज़ फ्रेंच मैत्री की पहली बार जाँच हुई। फ्रांस मोरक्को पर अपना अधिकार बढ़ाता जाता था। उसने बिना किसी अन्य राष्ट्र की छेड़छाड़ के स्वयं यथेच्छ विचरने के अभिप्राय से इटली (१९००) ग्रेटब्रिटेन और स्पेन (१९०४) से संधियाँ कर ली थीं। किन्तु १८८० में मेड्रिड की सन्धि से स्पेन और जर्मनी में यह समझौता हो चुका था कि मोरक्को सम्बन्धी कार्यों में जर्मनी अलग नहीं रहेगा। अतः जर्मनी ने भी वहाँ अपना अधिकार बताया। जर्मन सम्राट् टंजीर्स पहुँचे और मोरक्को एक स्वतंत्र राज्य घोषित कर दिया गया। यह फ्रांस को चुनौती देना था परन्तु फ्रांसीसी सरकार युद्ध के लिये तैयार न थी। अतः उसने जर्मनी की माँग स्वीकार कर ली।

१९०६ में समझौता हो गया। मोरक्को का सुल्तान स्वतंत्र राजा मान लिया गया परन्तु वहाँ के बैंक और पुलिस अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार में रहे। जर्मनी ने घुस कर यद्यपि वहाँ पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार करा दिया परन्तु वह फ्रान्स और इङ्गलैण्ड में वैमनस्य न बढ़ा सका। इन झगड़ों के कारण फ्रांस, इङ्गलैण्ड और रूस में और गाढ़ी मित्रता हो गयी और कुछ दिन बाद इटली भी जर्मनी और आस्ट्रिया को छोड़कर इधर आ मिला। अतः महायुद्ध के लिये इसी समय से दल निश्चित हो गये।

अगादिर घटना—१९११ में मोरक्को का प्रश्न फिर उठा। फ्रांस की एक सेना ने वहाँ की राजधानी फ़ेज़ पर अधिकार कर लिया था। यह देख कर जर्मनी ने भी वहाँ के अगादिर

स्थान पर पेन्थर नामक एक जहाज भेज दिया। यह देख कर इङ्गलैण्ड ने भी फ्रान्स का पक्ष लेकर वहाँ हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया, क्योंकि अटलांटिक महासागर में जर्मनी का अधिकार हो जाने से इङ्गलैण्ड का व्यापार संकटमय हो जाता। इस पर जर्मनी ढीला पड़ गया और उसने वहाँ पर फ्रांस का संरक्षण स्वीकार कर लिया। इसके बदले में फ्रान्स ने अफ्रीका में कांगो का उत्तर-पश्चिमी भाग जर्मनी के लिये छोड़ दिया।

अगादिर की घटना के बाद जर्मनी ने समझ लिया कि उसका असली शत्रु फ्रांस नहीं, बल्कि इङ्गलैण्ड है। जर्मनी के इस सन्देह को दूर करने का इंगलैण्ड ने प्रयत्न किया। दिसम्बर १९११ में ब्रिटिश प्रधान मंत्री ने प्रकट कर दिया कि इङ्गलैण्ड शस्त्रबल की सहायता प्राप्त करने के उद्देश से किसी देश से गुप्त सन्धि नहीं रखता है। उसने कहा कि इङ्गलैण्ड का उद्देश सदा की भाँति संसार में शान्ति स्थापित रखना है। जर्मनी पर आक्रमण करने की इच्छा रखने वाले किसी दल में भी इङ्गलैण्ड सम्मिलित नहीं है। परन्तु इन बातों से जर्मनी सन्तुष्ट न हुआ।

ये बातें चल ही रही थीं कि बालकन प्रायद्वीप में एक नया बखेड़ा उठ खड़ा हुआ जिसने समस्त संसार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित किया। सर्विया और आस्ट्रिया में झगड़ा चला। जर्मनी ने आस्ट्रिया की सहायता की और रूस ने सर्विया की। कुछ दिन बाद इङ्गलैण्ड, फ्रांस आदि भी युद्ध में कूद पड़े और यह युद्ध सर्वव्यापी हो गया। अगले अध्याय में हम बालकन की घटना का आरंभ से वर्णन करेंगे।

सोलहवाँ अध्याय

तुर्की और बालकन रियासतें

पूर्वी प्रश्न के सम्बन्ध में यूरोप सदा ही उलझन में पड़ा रहा है। लगभग पांच सौ वर्ष से यह प्रश्न यूरोप के सम्मुख उपस्थित रहा है और अब तक भी उसका शान्तिपूर्ण निबटारा नहीं हो सका है। संक्षेप में इसका आशय यह है कि तुर्की का, जो जाति तथा धर्म में यूरोप से भिन्न है—क्या किया जाय ?

सत्रहवीं शताब्दी तक समस्त यूरोप तुर्की से डरता रहा किन्तु फिर स्थिति बदल गयी। तुर्की की शीघ्रता से अवनती होने लगी और रूस का प्रभाव बढ़ चला।

नेपोलियन के समय में फ्रांस का ध्यान भी पूर्व की ओर लगा। नेपोलियन ने रूस के ज़ार अलेक्जेंडर प्रथम से समझौता करके मिश्र तथा शाम में सेनाएँ भेजीं किन्तु उसे कुछ लाभ न हुआ।

यूनान के स्वातंत्र्य-युद्ध के बाद पूर्वी प्रश्न का स्वरूप फिर बदला। अब तक यूरोप को यही ध्यान था कि तुर्की का आस्ट्रिया, फ्रांस और रूस आदि से क्या सम्बंध है। छोटी २ रियासतों और जातियों की ओर उसका ध्यान नहीं था। किन्तु यूनान के स्वतंत्र हो जाने के बाद बालकन की अन्य पराधीन जातियों—सर्व, बलगेरियन आदि—के उद्धार के लिये समस्त यूरोप ने प्रयत्न करना आरम्भ कर दिया।

इसी समय महम्मद अली मिश्र में जाकर सुलतान से

सम्बन्ध तोड़ कर स्वतंत्र हो गया। तुर्की के सुलतान ने इस पर यूरोपीय शक्तियों की सहायता माँगी, किंतु अकेला रूस उसकी सहायता को तैयार हुआ। रूस ने शीघ्र ही जाकर बास्फोरस, डार्डेनल्स तथा काले सागर पर अधिकार कर लिया और अन्य जातियों का इन स्थानों में प्रवेश निषिद्ध कर दिया।

इङ्गलैण्ड यह देख कर बहुत जला। वह भारत तथा अन्य पूर्वी देशों से व्यापार के लिये उपरोक्त स्थानों को खुला रहने देना चाहता था। इसी कारण रूस और इङ्गलैण्ड में झगड़े हुए, जिनमें क्रीमिया का युद्ध मुख्य है।

१८७५ में तुर्की के विरुद्ध बालकन प्रायद्वीप में फिर असन्तोष फैला। यूनान स्वयं स्वतंत्र होकर ही सन्तुष्ट न था। वह अपनी जाति के और भी प्रान्तों को तुर्की के आधिपत्य से निकाल कर अपने अधिकार में करना चाहता था। इधर दो और प्रान्त सर्विया और मोल्डेविया-वेलेशिया भी पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे। मोल्डेविया और वेलेशिया के लोग एक ही जाति तथा भाषा के थे तथा उनका इतिहास भी एक ही था। अतः उनमें ऐक्य और राष्ट्रीयता के भाव उत्पन्न हो चले थे और उन्होंने अपने सम्मिलित देशों का नाम रुमानिया रख लिया था। इंगलैण्ड और फ्रान्स भी उनकी स्वतंत्रता चाहते थे क्योंकि वह स्वतंत्र होकर तुर्की तथा रूस की वृद्धि को रोकता परन्तु आस्ट्रिया और तुर्की इसके विरुद्ध थे।

१८५९ में मोल्डेविया और वेलेशिया ने एक विदेशी मनुष्य को अपना शासक बनाया और बुखारेस्ट वहाँ की राजधानी नियत हुई। उसने सात वर्ष राज्य किया परन्तु लोग उससे

सन्तुष्ट न हुए। फिर उन्होंने यह समझ कर कि अपने ही देश के किसी नागरिक को शासक बना देना ठीक नहीं रहता, होहेनजोलर्न वंश के एक राजकुमार को निमंत्रित किया जो रुमानिया का चार्ल्स प्रथम कहलाया। उसने कुछ ही दिनों में वहाँ की दशा समझ ली और शीघ्र ही एक बड़ी सेना तैयार करना आरम्भ कर दिया और प्रशा से अफ़सर बुलाकर प्रशा के ढंग पर ही सेना को शिक्षित कराया। इस भाँति रुमानिया के पास एक दृढ़ सेना हो गयी और १८७० में उसने अपनी पूर्ण स्वतंत्रता घोषित कर दी।

१८७५ में सर्विया के पश्चिम के एक प्रान्त हर्ज़गोविना में विद्रोह हुआ। ये लोग स्लाव जाति के थे। अतः उन्हें पड़ोसी स्लावों बोस्निया, सर्विया, बलगेरिया आदि ने भी सहायता दी।

आस्ट्रिया के मंत्री ने भी घोषणा की कि इन प्रान्तों में धार्मिक स्वतंत्रता स्थापित करने के लिये तुर्की के सुलतान को बाध्य करना चाहिये। सुलतान अकेला था। अतः उसने प्रायः सब शर्तों को स्वीकार कर लिया परन्तु विद्रोही शान्त न हुए और अप्रैल १८७६ में बलगेरिया में भी विद्रोह आरम्भ हो गया। वहाँ के ईसाइयों ने तुर्की के कुछ अफसर भी मार डाले। इस पर तुर्कों ने वहाँ एक बड़ी सेना भेज कर विद्रोहियों को कड़ा दण्ड दिया। वे जहाँ मिले वहीं क़त्ल कर दिये गये। बहुत से लोग जाकर एक गिरजे में छिप रहे परन्तु वह गिरजा भी जला दिया गया। कुल ८० गांवों में से ६५ नष्ट कर दिये गये।

इस समाचार को सुनकर यूरोप में बड़ा क्रोध फैला। सुलतान अब्दुल अज़ीज़ ३० मई को गद्दी से उतार दिया गया

और चार दिन बाद मरा हुआ पाया गया । अब्दुल हमीद द्वितीय नया सुलतान हुआ । तुर्की में भी अब राष्ट्रीयता के विचार जागृत हो गये थे । वे कहने लगे कि तुर्की तुर्कों के लिये ही होना चाहिये । उसे विदेशी लोगों का क्रीड़ास्थल न बनने देना चाहिये । तुर्की अपना भाग्य-निर्णय स्वयं ही करेगा ।

शीघ्र ही सर्विया और माण्टीनीग्रो ने भी तुर्की से युद्ध-घोषणा कर दी । इस भाँति यह तुर्की के विरुद्ध समस्त बालकन का युद्ध हो गया । अनेक रूसी लोगों ने भी सर्विया की सेना में नाम लिखाया परन्तु तुर्कों ने सब को हरा दिया ।

अब रूस ने भी तुर्की से युद्ध-घोषणा कर दी और रूमानिया ने भी उसका साथ दिया । रूस ने एक स्थान को चार बार लेने का प्रयत्न किया परन्तु बार २ हारा । अन्त में रूस ने वहाँ और अधिक सेना बढ़ाकर घेरा डाला जिससे तुर्कों ने कुछ महीने बाद थक कर हार मान ली । सेनस्टीफना नामक स्थान पर सन्धि हो गयी जिससे तुर्की ने सर्विया, रूमानिया और मान्टीनीग्रो की पूर्ण स्वतंत्रता स्वीकार कर ली तथा उन्हें कुछ और स्थान भी दिये । बोस्निया और हर्जगोविना में शीघ्र ही शासन सुधार करने का वचन दिया । बलगेरिया का विस्तार बहुत बढ़ा दिया गया और वह ईसाई गवर्नर के अधीन तुर्की सुलतान को कर देने वाली एक स्वतंत्र रियासत मानी गयी । इस भाँति १८७८ की सन्धि से यूरोप में तुर्की का अधिकार नाम मात्र को रह गया ।

परन्तु यह सन्धि स्थायी न हो सकी । यूनान तथा सर्विया ने इसका विरोध किया क्योंकि जो भाग वे लेना चाहते थे वह

बलगेरिया को दे दिया गया था। रूस के प्रभाव तथा विस्तार से इंगलैण्ड को भय हुआ। अतः उसने कहा कि इस निर्णय में पश्चिमी शक्तियों का भी हाथ होना चाहिये। इस सन्धि पर फिर विचार करना चाहिये क्योंकि इसका सम्बन्ध समस्त यूरोप से है। फलस्वरूप १८७८ में बिस्मार्क के सभापतित्व में बर्लिन कांग्रेस बैठी। इसमें बलगेरिया प्रायः तुर्की के सुलतान के अधीन रहा, बोस्निया और हर्ज़गोविना आस्ट्रिया के शासन में कर दिये गये। बसरेबिया रूमानिया से छीन कर रूस को दे दिया गया जिससे रूमानिया रूस का शत्रु हो गया। थिसली तुर्की से छीन कर यूनान को दिया गया। साइप्रस द्वीप इंगलैण्ड ने लिया और भविष्य में तुर्की की रक्षा का भार भी लिया।

इन युद्धों में बलगेरिया को रूस ने बहुत सहायता दी थी। अतः वहाँ पर रूसी अफसर भी बहुत थे परन्तु इनके बर्ताव से बलगेरिया वाले शीघ्र ही तंग आ गये और १८८३ में रूसी अफसर निकाल दिये गये। अतः रूस और बलगेरिया में भी शत्रुता हो गयी।

रूसी अफ़सरों के न रहने से बलगेरिया की सेना छिन्न भिन्न सी हो गयी। अतः सर्विया ने अवसर पाकर उस पर आक्रमण कर दिया, क्योंकि वह बलगेरिया के विस्तार के कारण उससे रुष्ट हो गया था। परन्तु बलगेरिया की सेना ने राष्ट्रीयता के जोश में आकर सर्विया की सेना को हरा दिया और फिर स्वयं सर्विया पर आक्रमण कर दिया, परन्तु आस्ट्रिया ने उसे बीच ही में रोक दिया और १८८६ में बुखारेस्ट स्थान पर सन्धि हो गयी। इस युद्ध से बलगेरिया की शान और कीर्ति बढ़ी।

रूस अपने अफसरों के बलगेरिया से निकाले जाने के कारण क्रुद्ध था। वह बलगेरिया की इस विजय को न देख सका। उसने बलगेरिया के राजकुमार अलेक्जंडर को जो १८७९ में राजा चुना गया था, तोता मैना आदि के पुराने किस्सों की भाँति एक रात में भेदियों द्वारा पलंगसहित उठवा लिया। जबरदस्ती उससे बलगेरिया राज्य के त्याग-पत्र पर हस्ताक्षर करा लिये और फिर उसे आस्ट्रिया भेज दिया। इस पर बलगेरिया में हलचल मच गयी। शीघ्र ही (१८८७ में) सेक्सकोबर्ग का राजकुमार फर्डिनेण्ड बलगेरिया का राजा बनाया गया। परन्तु वहाँ वास्तविक शक्ति अब राष्ट्रीय-दल के नेता स्टैंबुलफ़ के हाथ में थी जो 'बलगेरिया का बिस्मार्क' कहलाता था। उसका उद्देश रूसियों और तुर्कों को निकाल कर 'बलगेरिया बलगेरियनों के लिये' बनाना था। अतः उसने सेना की खूब वृद्धि की तथा सैनिक शिक्षा अनिवार्य कर दी। रेलें, सड़कें आदि बढ़ाकर व्यापार को उत्तेजना दी, शिक्षा में भी सुधार किया तथा राजधानी सोफिया को एक आदर्श नगर बना दिया।

स्टैंबुलफ़ के शत्रु भी बहुत से उत्पन्न हो गये थे और इन्हीं के द्वारा वह १८९५ में मार डाला गया परन्तु वह अपना काम पूरा कर चुका था, जिसके कारण १९०८ में उसका देश तुर्की के विरुद्ध पूर्ण स्वतंत्रता घोषित कर सका।

बालकन प्रायद्वीप में कई छोटी २ भिन्न २ जातियाँ बसी हुई हैं। अतः उसका इतिहास बड़ा जटिल है। उन में प्रायः सदा ही झगड़े होते रहे हैं।

१८७८ की बर्लिन कांग्रेस के बाद भी ये रियासतें अपनी

स्थिति से सन्तुष्ट न रह सकीं। रूमानिया सदा बसरेविया को रूस से पाने का प्रयत्न करती रहा तथा सर्विया, बोसनिया, हर्ज़ेगोविना तथा दक्षिणी हंगरी को मिलाने का प्रयत्न करती रही क्योंकि इन प्रान्तों में उसी के जाति के लोगों की संख्या अधिक है। बलगेरिया, मेसेडोनिया को प्राप्त करने की धुन में लगा रहा तथा यूनान भी मेसेडोनिया और क्रीट द्वीप को फिर अपने अधिकार में लाने की इच्छा करता रहा। मेसेडोनिया में सर्विया, बलगेरिया तथा यूनान सभी अपना २ अधिकार जमाना चाहते थे क्योंकि वहाँ पर इन सब जातियों, धर्मों और भाषाओं का विचित्र सम्मिश्रण था।

इस प्रकार बालकन रियासतों में एक दूसरे के स्वार्थों का संघर्षण होने से सदा वैमनस्य बना रहा जिसका फल यह हुआ कि वे सब मिलकर तुर्की के विरुद्ध कोई कार्य न कर सके, यद्यपि सब यही चाहते थे।

'तरुण-तुर्क'—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में यह बात सब पर प्रगट हो गयी कि तुर्की बहुत निर्बल हो गया है और दूरदर्शी यह भी देख सकता था कि यूरोप में तुर्की के खण्ड करके बाँट लेने का विचार हो रहा है। तुर्की की ऐसी स्थिति देखकर उसकी रक्षा के लिये पाश्चात्य शिक्षा तथा विचारों से प्रेरित तुर्क लोगों का एक दल खड़ा हुआ जिसका उद्देश जीर्ण और उत्साहहीन तुर्कों में नया जोश और नया जीवन संचार करना और तुर्क साम्राज्य को अखण्ड रखना था। इस दल ने अपना नाम 'तरुण तुर्क' रखा। ये लोग बहुत दिनों से वहाँ की सेना में गुप्त रूप से अपने सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे थे और सुल्तान

को प्रकट भी होने लगा था कि उसका वह अस्त्र (सेना) जिसके बल पर अब तक उसने निरंकुश शासन किया था, अब उसके विरुद्ध होने लगा है।

इसी दल के प्रयत्न से जुलाई १९०८ में तुर्की में क्रान्ति हो गयी जिसका उद्देश निर्बल तथा निरंकुश सरकार को हटाकर एक सुदृढ़ प्रजातंत्रीय सरकार की स्थापना करना था। विद्रोहियों ने शासन-प्रबन्ध अपने हाथ में कर लिया, तथा सेना ने भी सुलतान की आज्ञा मानने से इनकार कर दिया। सुलतान ने अपना सिंहासन बचाने के लिये १८७६ में स्वीकृत किये हुए सुधार जो शीघ्र ही मिटा दिये गये थे, फिर कार्यान्वित करने का वचन दिया। नवम्बर में पार्लमेन्ट का अधिवेशन होने की घोषणा कर दी गई और उसके मेम्बरों का चुनाव भी आरम्भ हो गया। इस रक्तरहित क्रान्ति से समस्त तुर्क साम्राज्य तथा अन्य देशों में भी अपूर्व हर्ष तथा उत्साह हुआ। तुर्कों ने धार्मिक भेद-भाव दूर कर दिये, फिर शासन-प्रबन्ध, न्याय, सेना जल-सेना, तथा शिक्षा आदि अनेक विभागों में सुधार हुए। नवम्बर में पार्लमेन्ट भी बैठी जिस में अमेरिका और इंगलैंड की पार्ल-मेन्ट की ओर से आये हुए बधाई-सूचक तार पढ़े गये।

परन्तु हर्ष के साथ ही यूरोपीय देशों को यह भय भी लग रहा था कि राष्ट्रीय भावों की उन्नति के कारण तथा सेना, आर्थिक दशा आदि में सुधार होने से तुर्की उत्तेजित होकर कहीं खोये हुए प्रान्तों को वापस लेने का प्रयत्न न करे। यह विचार ठीक था। तुर्की ने उन्नत होकर पड़ोसी देशों को भी तुर्की राष्ट्री-यता में डालना चाहा इस भाँति पूर्वी-प्रश्न फिर आरम्भ हो गया।

अक्तूबर १९०८ के आरम्भ से ही तुर्की के पड़ोसी भी सचेत होने लगे। आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्जगोविना को—जहाँ पर बर्लिन कांग्रेस के अनुसार उसे कुछ अधिकार मिल गये थे—पूर्णतया अपने राज्य में मिलाने की घोषणा कर दी। दो दिन बाद बलगेरिया के राजा ने भी अपनी पूर्ण स्वतंत्रता घोषित कर दी और यही क्रीट द्वीप में हुआ।

आस्ट्रिया के इस कार्य का सर्विया ने बड़े जोर का विरोध किया और युद्ध करने तक की धमकी दिखाई क्योंकि आस्ट्रिया की वृद्धि के कारण सर्विया की वृद्धि का मार्ग रुक गया था तथा रूस भी सर्विया को उकसा रहा था। इधर मार्च १९०९ में जर्मन सम्राट् ने आस्ट्रिया का पक्ष लेकर हस्तक्षेप किया जिससे रूस को अलग हट जाना पड़ा। अकेले रह जाने के कारण सर्विया को आस्ट्रिया के आगे सिर झुकाना पड़ा। उसने घोषणा की कि बोस्निया में आस्ट्रिया का अधिकार होने के कारण उसके स्वत्वों को कोई क्षति नहीं पहुँची है। तथा भविष्य में वह आस्ट्रिया का मित्र पड़ोसी रहेगा। इस भाँति युद्ध के मँडराते हुए बादल दूर हो गये।

दिसम्बर १९०८ में तुर्की पार्लमेन्ट बैठी जिस के दो भाग थे—सीनेट जिसके मेम्बर सुलतान नियत करता था तथा प्रतिनिधि सभा—जिसके मेम्बर जनता द्वारा चुने जाते थे। इस सभा से बड़ी आशाएँ की जाती थीं किन्तु अनुभवहीन होने के कारण तुर्क सुधारों को सफल न कर सके। पार्लमेन्ट सुलतान की इच्छा-पूर्ति का साधन बन गयी। जो कुछ सुधार का प्रयत्न उन्होंने किया उसका कुछ फल न हुआ। अतः सेना ने ही ऐसी पार्लमेन्ट

का विरोध करके उसे भंग कर दिया और अनेक नेताओं को मार डाला।

परन्तु 'तरुण-तुर्क' दल ने हिम्मत न हारी। सभी सेना उनके विरुद्ध नहीं हुई थी। अतः उन्होंने अपने पक्ष की सेना को इकट्ठा करके राजधानी की ओर प्रस्थान किया और कुछ घंटों के बाद ही कुस्तुंतुनिया को अपने अधिकार में कर लिया। इस भाँति फिर उनका दल प्रधान हो गया। उन्होंने यह कहकर कि सेना का विद्रोह सुलतान ने ही कराया था, उसी ने अपना निरंकुश शासन फिर स्थापित करने के लिये सेना को भड़काया था, सुलतान अब्दुल हमीद द्वितीय को २७ अप्रैल १९०९ को गद्दी से उतार दिया और कैद करके सेलोनिका नगर में भेज दिया। इस सुलतान के समय में तुर्की की भारी क्षति हुई। उसके तेंतीस वर्ष के समय में सर्विया, बलगेरिया, बोस्निया, हर्जेगोविना, क्रीट, साइप्रस, मिश्र तथा सूडान—इतने देश तुर्की के अधिकार से निकल गये और उसकी आर्थिक दशा भी बहुत खराब हो गयी।

फिर भी तुर्की के अधीन मेसेडोनिया, अलबानिया और थ्रेस आदि देश बच रहे थे जिन में भिन्न २ जातियों—तुर्क, यूनानी, यहूदी, बलगेरियन, सर्वियन आदि—तथा भिन्न २ भाषा भेष आदि के मनुष्य बसते थे। तुर्कों का काम केवल उनसे कर लेना था। वे उनके आचार-विचारों पर ध्यान नहीं देते थे, इस कारण तथा यूरोपीय देशों में आपस में द्वेष के कारण भी तुर्की का यूरोप में थोड़ा बहुत पैर जमा रहा।

तरुण तुर्क-दल ने दूसरी बार प्रभुत्व पाकर भी अपनी नीति

में कोई परिवर्तन नहीं किया। उन्होंने अन्य जातियों के प्रति असमानता का वर्ताव किया तथा उन्हें तुर्की सांचे में ढालना चाहा। अतः ईसाई, यहूदी आदि उसके विरुद्ध हो गये। इसीलिये आस्ट्रिया ने बोस्निया और हर्ज़गोविना को मिला लिया और बलगेरिया ने भी स्वतंत्रता घोषित कर दी।

ऐसी स्थिति देखकर इटली ने भी अपने विस्तार का उपयुक्त अवसर समझा और १९११ में त्रिपोली में एक बड़ी सेना भेजी और तुर्की के पास के रोड्स आदि कई बन्दरगाह भी ले लिये जिससे तुर्की को शीघ्र ही संधि की प्रार्थना करनी पड़ी। अक्टूबर १९१२ में लासेन स्थान पर संधि हुई जिस से त्रिपोली इटली को मिल गया। तुर्की की निर्बलता का पता लग गया जिस से छोटी २ रियासतों ने भी उस पर शीघ्र ही धावा बोल दिया।

बालकन युद्ध—बालकन की रियासतों में जाति, इतिहास तथा स्वार्थों की भिन्नता के कारण ऐक्य होना असंभव प्रतीत होता था। किन्तु १९१२ में यही बात पूरी होते देख कर समस्त यूरोप को बड़ा आश्चर्य हुआ। सर्विया, बलगेरिया मेसेडोनिया आदि को तुर्की से स्वतंत्र कराना चाहते थे, अतः सार्वजनिक स्वार्थ के लिये वे अपने २ भेदभाव छोड़ कर आपस में मिल गये, क्योंकि उन्होंने देखा कि तुर्कों को हराने का इससे अधिक उपयुक्त अवसर शायद न मिले।

इस भाँति सर्विया, बलगेरिया, मान्टीनीग्रो और यूनान चारों ने मिलकर तुर्की से युद्ध-घोषणा कर दी। यह निश्चय हुआ कि बलगेरिया थ्रेस पर आक्रमण करे जहां तुर्की की प्रधान सेना थी; तथा सर्विया और यूनान मेसेडोनिया में युद्ध करें। यूनानियों ने

बढ़कर कई स्थानों पर तुर्कों को हराया और सेलोनिका नामक स्थान पर अधिकार कर लिया। इसी भाँति सर्विया और बलगेरिया ने भी तुर्की सेना को कई स्थानों पर हराया। तुर्की की पूरी हार हो चुकी थी फिर भी बलगेरिया ने एड्रियानोपल स्थान पर अधिकार करके कुस्तुन्तुनिया लेने की धमकी दी। यूनानी सेना ने ईजियन द्वीपों पर अधिकार कर लिया। इस भाँति किसी समय के महान् तुर्क साम्राज्य में अब कुस्तुन्तुनिया तथा उसके आस-पास के ४-६ स्थान रह गये। तुर्की की इस पराजय पर बालकन रियासतों को तथा स्वयं तुर्की को भी बड़ा आश्चर्य हुआ। बलगेरिया एड्रियानोपल को अपने राज्य में मिलाना चाहता था परंतु तुर्क उसे देने को तैयार न थे। अतः फिर युद्ध आरंभ हुआ और तुर्कों से रहे सहे स्थान भी छिन गये और उसे फिर संधि की प्रार्थना करनी पड़ी। ३० मई १९१३ की लन्दन की संधि के अनुसार बालकन युद्ध का अन्त हुआ जिसमें ईजियन सागर के एनास स्थान से काले सागर के मिडिया स्थान तक एक रेखा खींची गयी और इसके पश्चिम के सब भाग तुर्की को छोड़ देने पड़े।

युद्ध के समाप्त होते ही जीते हुए देश के बँटवारे के लिये बालकन रियासतों में झगड़े आरंभ हो गये जिसका दोष अधिकांश महाशक्तियों के ऊपर है।

सर्विया बहुत दिनों से समुद्र तक अपना अधिकार बढ़ाना चाहता था परंतु आस्ट्रिया और इटली ने बीच में पड़कर तुर्की से लिये हुए भूभाग में से अल्बानिया नामक एक नयी तथा स्वतंत्र रियासत स्थापित करनी चाही और इसी बात पर झगड़ा चला।

वालकन युद्ध के समाप्त होने के पहले ही सर्विया और वलगेरिया ने एक समझौता कर लिया था कि यदि युद्ध में उनकी विजय रहे तो मेसेडोनिया का विस्तृत भाग वलगेरिया ले ले और उसके पश्चिमी भाग में सर्विया का अधिकार रहे, जिसमें एड्रियाटिक समुद्र का किनारा भी सम्मिलित था। परंतु आस्ट्रिया सर्विया को समुद्र तक वढ़ने देना न चाहता था, क्योंकि आस्ट्रिया में भी सर्व जाति के लाखों लोग वसते थे जिससे आस्ट्रिया को यह खटका था कि वे लोग सर्विया की उन्नति तथा स्वतंत्रता देख कर उसी में मिलना पसन्द करेंगे। इसी विचार के कारण उसने अल्वानिया का नया राज्य वनाया, जिससे सव लोग वड़े क्रुद्ध हुए किंतु वे कुछ कर न सकते थे। अव सर्विया ने इस भाग के वदले, जो उसे नहीं लेने दिया गया था, मेसेडोनिया का ही कुछ और भाग माँगा परंतु वलगेरिया ने इसका घोर विरोध किया। उसने कहा कि तुर्की को हराने में हमारी ही सेना ने सव से अधिक भाग लिया है। अतः हमको सव से अधिक भाग मिलना ही चाहिये। वलगेरिया की इस दृढ़ता का कारण यह था कि तुर्कों के ऊपर विजय प्राप्त करके उसे वड़ा अभिमान हो गया था और वह समझता था कि हम जव चाहें तव दोनों रियासतों सर्विया और यूनान को हराकर मनमानी सन्धि करा सकते हैं। इसी से उसने जून १९१३ में दोनों पर धोखे से धावा कर दिया जिससे फिर भयंकर युद्ध हुआ।

इस युद्ध से वलगेरिया का उद्देश मनचाही संधि करना था परंतु इसका परिणाम उलटा हुआ। सर्विया, मान्टीनीग्रो और यूनान ने मिलकर अपना सारा क्रोध वलगेरिया पर उतारा।

रूमानिया ने भी बलगेरिया से कुछ भाग माँगा था परंतु बलगेरिया के मना करने पर वह भी बलगेरिया के विरुद्ध लड़ने लगा, तथा तुर्की भी गये हुए देश का कुछ भाग प्राप्त करने के लिये बलगेरिया के विरुद्ध दल में सम्मिलित हो गया। इस भाँति यह युद्ध सभी बालकन रियासतों का युद्ध हो गया। अतः यह दूसरा बालकन-युद्ध कहलाता है।

बलगेरिया इतने शत्रुओं के आगे न ठहर सका। उसे थोड़े ही दिन बाद संधि की प्रार्थना करनी पड़ी। अतः १० अगस्त १९१३ को बुखारेस्ट की संधि हुई जिसके अनुसार बलगेरिया का बहुत सा भाग रोमानिया, सर्बिया तथा यूनान ने ले लिया। उत्तरी तथा मध्य मेसेडोनिया को सर्बिया ने लिया और दक्षिणी मेसेडोनिया तथा ईजियन सागर के कुछ भाग पर यूनान का अधिकार हो गया। तुर्की ने भी गत वर्ष में खोये हुए देश का कुछ भाग जिसमें एड्रियानोपल नगर भी था, फिर ले लिया।

इस भाँति इस संधि से बलगेरिया का देश बहुत घट गया। अतः वह सदा इसे तोड़ने का प्रयत्न करता रहा। उसके धन जन की भी भारी क्षति हुई अर्थात् उसके डेढ़ लाख मनुष्य इन युद्धों में मारे गये तथा अनेक बीमारी, महँगी, अकाल आदि के कारण मर गये। सब रियासतों के पाँच लाख से ऊपर मनुष्य मरे।

ये बालकन युद्ध ही १९१४ के महायुद्ध के विध्वंस कहलाते हैं। इन युद्धों की संधियों के दोषों के कारण ही महायुद्ध हुआ। बलगेरिया के लोग बुखारेस्ट की संधि से बड़े क्रुद्ध थे ही,

उधर आस्ट्रिया ने भी इस संधि से अपनी अप्रसन्नता प्रकट की। इसका कारण यह था कि इटली से निकाले जाने के वाद आस्ट्रिया के व्यापार का मुख्य केन्द्र एड्रियाटिक सागर के स्थान पर ईजियन सागर हो गया था। उसे पश्चिमी एशिया के लिये कोई व्यापार मार्ग पाने की वड़ी चिन्ता थी। अतः वह सेलोनिका नामक वन्दरगाह लेना चाहता था जो कि अव यूनान के अधिकार में था। इधर सर्विया वहुत वढ़ गया था और अव वह स्लाव जाति की एकता का केन्द्र हो गया था। आस्ट्रिया पहले से ही उसके विरुद्ध था। अतः यह निश्चित सा हो गया था कि सर्विया और आस्ट्रिया में झगड़ा होगा। वह समय भी शीघ्र ही आ गया।

सत्रहवाँ अध्याय

विश्वव्यापी महायुद्ध

आरम्भ

अव तक जितने युद्ध हुए उनके कारण अनेक थे। परन्तु इस युद्ध का कोई विशेष कारण नहीं था, केवल यही कारण वताया जा सकता है कि सव यूरोपीय देश युद्ध के लिये तैयार थे। अतः युद्ध हुआ।

अगस्त १९१३ की वुखारेस्ट की संधि से यूरोपीय महासमर की आशंका कुछ काल के लिये दूर हो गयी थी, यद्यपि आस्ट्रिया और सर्विया दोनों में असन्तोष वना रहा। इसी समय आस्ट्रिया के युवराज आर्कड्यक फ्रान्सिस फर्डिनेन्ड जो वोस्निया के मिलाये

हुए नये भाग का निरीक्षण कर रहे थे, बोस्निया की राजधानी सिराजवो में स्त्री सहित मार डाले गये। (जून १९१४)

आस्ट्रिया ने सर्विया को इस हत्या का दोषी ठहराया क्योंकि सर्व लोग गुप्तसमितियों द्वारा बहुत दिनों से अपने दल का प्रचार कर रहे थे, तथा सर्विया के पास क्षतिपूर्ति के लिये कुछ कड़ी शर्तें लिख कर भेजीं और उत्तर के लिये ४८ घन्टे का समय दिया। इस पत्र में कहा गया कि सर्विया इस बात पर खेद प्रकट करे कि सर्विया के गुप्तदलों के प्रचार में, जिसके कारण यह हत्या हुई—उसके अफसरों का भी हाथ था। इनके अतिरिक्त कुछ और भी शर्तें थीं कि सर्विया अपने प्रचार-कार्य को बन्द करा दे। आस्ट्रिया के विरुद्ध सर्व लोगों को भड़काने वाले पत्रों को भी बन्द करे, गुप्तसमितियों का पूर्ण रूप से मूलोच्छेदन करे, आस्ट्रिया के विरुद्ध विचार रखने वाले लोगों को सेना में से निकाल दे तथा इस हत्याकारी षड्यन्त्र का पता लगाने में अपने अफ़सरों को हमारे अफ़सरों की सहायता करने की आज्ञा दे।

इस कड़े पत्र का कारण यह था कि आस्ट्रिया को विश्वास हो गया था कि युवराज की हत्या में सर्विया तथा सर्विया की सरकार का हाथ अवश्य है।

इस पत्र को पढ़कर सर्विया ढीला पड़ गया और उसने आस्ट्रिया की कई बातें स्वीकार कर लीं तथा इस झगड़े को हेग की कान्फ्रेंस अथवा किसी और स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सभा में उपस्थित करने को कहा। आस्ट्रिया ने इस उत्तर को सन्तोषजनक न समझ कर युद्ध की घोषणा कर दी। (२० जुलाई १९१४)

इससे यूरोप को बड़ा आश्चर्य हुआ। ब्रिटेन, फ्रांस आदि ने

आस्ट्रिया को रोकना चाहा और युद्ध बचाने की इच्छा से इस झगड़े को एक अन्तर्राष्ट्रीय सभा में पेश करने को कहा। जर्मनी आस्ट्रिया के पक्ष में बोला। उसने इंगलैण्ड ही से सीखे हुए पाठ के अनुसार कहा कि यह झगड़ा आस्ट्रिया और सर्विया के बीच का आपसी झगड़ा है, अन्य राष्ट्रों को इसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है।

आस्ट्रिया ने सर्विया की ओर अपनी सेना भी भेज दी थी। यह देखकर रूस भी बीच में कूद पड़ा और उसने अपनी सेना सर्विया की सहायता के लिये भेज दी। इस पर जर्मनी ने अपने मित्र आस्ट्रिया का पक्ष लेकर रूस को एक पत्र लिखा कि वह अपनी सेना सर्विया की सहायता को न भेजे नहीं तो जर्मनी को भी आस्ट्रिया से सन्धि के अनुसार युद्ध में सम्मिलित होना पड़ेगा। रूस ने इस पत्र का कोई उत्तर न देकर अपनी सेना भेजना जारी रखा। अतः जर्मनी ने भी रूस के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और फ्रांस के प्रधान-मंत्री विवियानी से पूछा कि क्या रूस-जर्मनी युद्ध में फ्रांस तटस्थ रहेगा? फ्रांस ने उत्तर दिया कि फ्रांस वह कार्य करेगा जिससे उसका हित होगा। वह तटस्थ रहने के लिये बाध्य नहीं है। इस पर जर्मनी ने उधर की रक्षा के लिये फ्रांस की सीमा पर भी एक सेना भेज दी।

२ अगस्त को जर्मनी ने बेलजियम को एक पत्र भेजा कि क्या वह जर्मन सेना को अपने देश में होकर फ्रांस में निकल जाने देगा? यदि वह ऐसा करे तो जर्मनी उसे स्वाधीन रखने का पूर्ण प्रयत्न करेगा और यदि उसने जर्मन सेनाओं को रोका तो वह जर्मनी का शत्रु समझा जायगा। इस पत्र का उद्देश यह था कि

जर्मनी चाहता था कि फ्रांस की तैयारी होने से पहले ही वह फ्रांस की सेना को हरा कर बलहीन कर दे और फिर निश्चिन्त होकर रूस की ओर ध्यान दे। फ्रांस में पहुँचने का सबसे पास का रास्ता बेलजियम होकर ही था। इसीलिये जर्मनी ने इस मार्ग से सेना भेजी और उसे निकल जाने देने के लिये बेलजियम से आज्ञा माँगी। बेलजियम के राजा अलबर्ट ने अपने मन्त्रियों की सलाह लेकर उत्तर दिया कि स्वातन्त्र्य युद्ध के बाद १८३९ तथा फ्रांस-जर्मन युद्ध के समय १८७० की सन्धियों के अनुसार जर्मनी ने स्वयं बेलजियम का तटस्थ रहना स्वीकार कर लिया था। यदि अब बेलजियम जर्मन सेना को निकल जाने देगा तो यूरोप उसे विश्वासघाती कहेगा। अतः बेलजियम जर्मन सेना को अपने देश में से न निकलने देगा। इस उत्तर को पाकर जर्मन सेनाएँ क्रुद्ध होकर एक दम बेलजियम में घुस पड़ीं। जर्मन चांसलर ने वहाँ की रीस्टाग अथवा पार्लमेंट में इस विषय में कहा था—'हम जानते हैं कि हमारा यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय-विधान के विरुद्ध है परन्तु इस समय ऐसी ही आवश्यकता आ पड़ी है। ऐसे समयों पर विधान प्रायः तोड़ दिये जाते हैं। हमें भय था कि फ्रांस हमारी सेना पर आक्रमण करके उसे नष्ट कर देता। अतः अपनी रक्षा के लिये विवश होकर हमें यह कार्य करना पड़ा है। यह विपत्ति दूर होने पर हम बेलजियम से क्षमा माँग कर तथा उसकी क्षति-पूर्ति करके इसका प्रायश्चित कर लेंगे।'

जर्मनी की उन्नति के कारण इङ्गलैंड उससे बहुत दिनों से जल रहा था और यह भी समझ रहा था कि किसी न किसी दिन उसे जर्मनी से भिड़ना पड़ेगा। जब जर्मनी ने फ्रांस के

विरुद्ध युद्ध-घोषणा कर दी तो इङ्गलैंड भी उसमें सम्मिलित होता ही। इसी बीच में उसे बेलजियम की रक्षा करने का बहाना मिल गया और उसका शुभचिन्तक बन कर वह भी मैदान में आ गया, अन्यथा इङ्गलैंड को युद्ध में सम्मिलित होने का कोई कारण नहीं था।

जर्मनी में स्थित अंग्रेज राजदूत को सूचना दी गयी कि वह जर्मन सरकार से कहे कि यदि रात के १२ बजे तक आज ही जर्मनी इस बात का विश्वास न दिलायेगा कि उसकी सेना बेलजियम में अब आगे न बढ़ेगी तो ब्रिटिश सरकार बेलजियम की तटस्थता स्थापित रखने के लिये भरसक प्रयत्न करेगी। जर्मनी इस बात से बड़ा दुःखी हुआ कि ब्रिटिश सरकार केवल एक देश की 'तटस्थता' स्थापित रखने के लिये—केवल १८३९ की सन्धि के 'एक काग़ज़ के टुकड़े' के लिये इतनी चिन्ता करे। अतः उसने इङ्गलैंड को भी यही उत्तर दिया कि इस समय यह अति आवश्यक है कि जर्मन सेनाएँ फ्रांस में सबसे सरल और शीघ्रता के मार्ग से जाँय। इस पर इङ्गलैंड के प्रधान मन्त्री मी आस्क्विथ ने घोषणा कर दी कि जब तक फ्रांस और बेलजियम की क्षतिपूर्ति न हो जायगी और जब तक जर्मनी की बलवती शक्ति पूर्णतया नष्ट न हो जायगी तब तक इङ्गलैंड भी तलवार म्यान में न रखेगा। इस घोषणा का कारण यह था कि इङ्गलैंड को भय था कि फ्रांस और बेलजियम को हरा कर जर्मनी रूस को दबा देगा और रूस के हारते ही जर्मनी समस्त यूरोप में प्रधान हो जायगा, फिर उसे दबाना कठिन हो जायगा।

इस भाँति युवराज फर्डिनेण्ड की हत्या के बाद केवल बारह

दिन में ही ये सब घटनाएँ हो गयीं और सात राष्ट्र रण-क्षेत्र में आ गये। इससे भी यही प्रकट होता है कि सभी राष्ट्र युद्ध करने के लिये तैयार थे।

१९०९ तक बेलजियम की सेना १८३० के पुराने ढाँचे पर चली आयी थी। सेना की भर्ती के लिये लाटरी द्वारा निर्णय किया जाता था। जिनका दाव अच्छा पड़ गया वे मुक्त कर दिये जाते थे तथा शेष को सेना में भर्ती होना पड़ता था। यदि कोई अमीर आदमी का लड़का लाटरी में हार जाय तो वह सत्तर पौण्ड देकर किसी गरीब को अपने बजाय सेना में भर्ती करा सकता था। इस भाँति सेना की भर्ती से अपने पुत्रों को बचाने के लिये प्रत्येक किसान की इच्छा रहती थी कि किसी प्रकार सत्तर पौण्ड बच जाँय। किन्तु १९०९ में लाटरी प्रथा दूर करके यह आज्ञा निकाली गयी कि प्रत्येक कुटुम्ब राष्ट्रीय सेना में भर्ती होने के लिये एक युवक दे। १९१२ में सैनिक शिक्षा प्रायः सब के लिये अनिवार्य कर दी गयी। यदि महायुद्ध चार छः वर्ष बाद होता तो जर्मनी को और अधिक कठिनाई पड़ती किन्तु १९१४ में बेलज़ियन लोग पूर्णतया शिक्षित नहीं हो पाये थे, फिर भी उन्होंने अपनी वीरता से प्रकट कर दिया कि वर्तमान समय की सब से वीर जातियों में उनकी भी गणना होनी चाहिये और जूलियस सीजर ने जो उन्हें सब गॉल लोगों में अधिक वीर बताया था वह असत्य नहीं था।

जर्मन सेनाओं के आने का समाचार सुनकर अलबर्ट ने ३ अगस्त को सम्राट् जार्ज पंचम को बेलजियम की सहायता करने के लिये तार दिया। बेलजियम लोग लड़ने के लिये पूरे तैयार थे।

७ अगस्त को पार्लमेण्ट में अलवर्ट ने कहा—'यदि हमें आक्रमण को रोकना आवश्यक हुआ तो हमारा कर्त्तव्य हमें सशस्त्र तथा सर्वस्व त्याग करने के लिये तैयार पायेगा। यदि कोई विदेशी हमारे देश की अवहेलना करेगा तो वह सब बेलजियनों को अपने राजा के चारों ओर एकत्र पायेगा। हमें अपने भाग्य पर भरोसा है। वह देश जो अपनी रक्षा करता है प्रत्येक से आदर पाता है तथा नष्ट नहीं हो सकता।'

बेलजियम में जर्मन सेनाओं का पहला दृढ़ संघर्षण लीज नामक स्थान पर हुआ। युद्ध के पहले ही सप्ताह में बेलजियनों की वीरता ने यूरोप—कम से कम फ्रांस—को बचा लिया। यदि ये लोग न लड़ते तो जर्मन अवश्य पेरिस में पहुँच जाते।

६४ वर्ष के बूढ़े जनरल लेमन ने अपूर्व वीरता से अपने किले की रक्षा की। शत्रुओं ने उसे लीज के अन्तिम किले में बेहोश पड़ा पाया। आँखें खोलते ही उसने अपने पास के जर्मन अफसर से कहा कि 'तुम अपनी रिपोर्ट में यह लिख देना कि तुमने मुझे बेहोश पाकर क़ैद कर लिया!' जर्मन सेनापति ने भी उसकी वीरता देखकर कहा—'आप अपनी तलवार अपने पास ही रखें, ऐसे वीर शत्रु से लड़ने में मुझे आनन्द हुआ है!' इस भाँति लीज लेने में ही जर्मनों को १०-१२ दिन लग गये, जब कि वे कुछ घण्टों में ही उसे लेने का विचार कर रहे थे।

इसके पश्चात् जर्मनी ने अलवर्ट से फिर अपनी सेनाओं को निकल जाने देने की प्रार्थना की किन्तु अलवर्ट ने साफ़ इनकार कर दिया। अब जर्मन सेनाएँ बहुत क्रुद्ध हुईं और बेलजियनों को डराकर आत्म-समर्पण कराने के लिये उन्होंने भयंकर नीति

का अवलम्बन किया जिसमें लूवेन का घेरा सबसे मुख्य है। मोर्निंग पोस्ट के युद्ध के सम्वाददाता ने २७ अगस्त को निम्न तार भेजा था—'बुधवार की रात को जर्मनों ने लूवेन पर आक्रमण किया। जन-संख्या का अधिकांश भाग जिसमें स्त्री बच्चे तथा पादरी सभी सम्मिलित थे, क़त्ल कर दिया गया। यहाँ की प्रसिद्ध इमारतें, पुस्तकालय तथा विश्वविद्यालय आदि नष्ट कर दी गयीं और नगर धूल में मिला दिया गया। ये बातें वहाँ से भागे हुए लोगों ने कही हैं, और अविश्वसनीय होने पर भी सही हैं। इसी भांति वे सब गाँव और नगर जिनके किसी भी मनुष्य ने जर्मन सेना पर गोली चलाई थी लूटे और जलाये गये।'

जर्मन सेनायें आगे बढ़ती जाती थीं। लीज के बाद ब्रूसेल्स और नामूर भी ले लिये गये। अब बेलजियन सेना एन्टवर्प में आकर जमा होने लगी जहाँ उनके राजा ने लौटती हुई सेनाओं को फ़िर संगठित किया। नगर के लोग अपने राजा के आने से बड़े उत्साहित हुए परन्तु शीघ्र ही समाचार मिले कि एक जर्मन हवाई जहाज ने राजा के महल पर जहाँ पर राजा का कुटुम्ब भी था, बम बरसाये हैं। युद्ध में जर्मनी का यह पहला ही वायुयान था। कुछ अंग्रेजी सेना भी यहाँ आ गयी किन्तु ९ अक्टूबर को जर्मनों ने एण्टवर्प भी ले लिया। अलबर्ट से बहुत से लोगों ने किसी सुरक्षित स्थान में चले जाने को कहा था किन्तु वे साफ इनकार करते रहे और उनकी रानी भी उन्हीं के साथ रहीं।

इससे आगे मोन्स स्थान पर फ्रांस और इंगलैण्ड की सम्मिलित सेना मिली जो बड़ी वीरता से लड़ी। भारतीय सिपाहियों ने

भी इन युद्धों में बड़ी वीरता दिखाई जिसका वर्णन गत वर्ष बेलजियम के सम्राट् ने बम्बई में आकर किया था। परन्तु जर्मन सेनाएँ सबको हराकर आगे बढ़ती गयीं। इसी बीच में फ्रांस और इंगलैण्ड ने भी और सेनाएँ भेजीं, जो जर्मनों से फ्रांस-बेलजियम की सीमा पर मिलीं किंतु जर्मनों ने उन्हें फिर भगा दिया, और वे पेरिस की ओर बढ़े। फ्रांसीसी सरकार डर कर बोर्डो स्थान पर भाग गयी और यह आशंका होने लगी कि अब १८७० की पुनरावृत्ति होगी परंतु इसी समय फ्रांसीसी जनरल ज्योफ्रे ने मार्न नदी के दक्षिणी तट पर उन्हें रोका। ज्योफ्रे ने सब सेनानायकों के पास संदेशा भेजा कि पीछे हटने का समय अब समाप्त हो गया, अब यहीं भयंकर युद्ध करना चाहिये। सिपाहियों से भी उसने अपील की कि अब पीछे हटने के बजाय यहीं प्राण दे देना अच्छा है, अतः हिम्मत बाँधो और बहादुरी से लड़ो। इसका फल यह हुआ कि ५-९ सितम्बर १९१४ के इस युद्ध में जर्मन सेना बुरी तरह हार गयी। यह युद्ध बड़ा प्रसिद्ध, स्मरणीय तथा महत्त्वपूर्ण हुआ क्योंकि इसने न केवल फ्रांस को ही बल्कि समस्त यूरोप को जर्मनी के प्रभुत्व से बचा लिया।

इस भाँति पेरिस लेने में असमर्थ होकर जर्मनों ने इंगलिश चैनल में पहुँचकर इंगलैण्ड के बन्दरों पर अधिकार करने का प्रयत्न किया। फ्रान्स और बेलजियम की सेनाएँ इंगलैण्ड की सहायता को आ गयीं और फ्लैण्डर्स में कई बड़ी लड़ाइयाँ हुईं जिनमें ब्रिटिश सेना बुरी तरह हरा दी गयी और नष्ट कर दी गयी। जर्मनों ने समुद्री किनारे पर अधिकार कर लिया किंतु वे कैले और बोलोन में न पहुँच सके।

अब जर्मन सेना ने फ्रांस और बेलजियम की भूमि पर स्वीजरलैण्ड से लगा कर उत्तर-सागर तक ४७० मील का लम्बा घेरा डाला जिसका नाम 'हिंडनबर्ग लाइन' पड़ा क्योंकि जर्मन सेना के सेनापति उस समय प्रसिद्ध जनरल हिंडनबर्ग थे। इसके सामने ही अंग्रेज, फ्रांस आदि के डेरे पड़े। अब तक संसार के इतिहास में इतना लम्बा घेरा कोई नहीं पड़ा। यही अन्त तक युद्ध का प्रधान पश्चिमी केन्द्र रहा। तीन साल तक यहीं पर युद्ध होता रहा जब तक कि अमेरिका की सेना आ गयी।

इसी समय पूर्व की ओर भी खूब युद्ध हो रहा था। जब जर्मन सेना पेरिस की ओर बढ़ रही थी, तभी रूस ने फ्रांस की सहायता को सेना भेजी जिससे जर्मनी को अपनी कुछ सेना पश्चिम से हटा कर इधर भेजनी पड़ी और इसी कारण मार्न नदी के पास उसकी हार हो गयी। हिंडनबर्ग ने रूस को दो बार पूर्णतया हराया जिससे वे जर्मनी में घुसने लगे। रूस ने अपनी हार का बदला दूसरे ही महीने में आस्ट्रिया की सेनाओं को दो तीन बार हराकर लिया और तीन लाख सिपाही क़ैद किये।

इसी वर्ष अगस्त में मारण्टीनीग्रो सर्विया की ओर और तुर्की जर्मनी की ओर मिल गया। तुर्की और जर्मनी में बहुत मित्रता हो गयी थी, और तुर्की सेना भी बहुत से जर्मन अफसरों द्वारा सिखाई गयी थी। अतः तुर्की ने जर्मनी को सहर्ष सहायता दी और दो जर्मन जहाजों को बास्फोरस के मुहाने से काले सागर में निकल जाने दिया जिन्होंने रूसी बन्दरों पर गोले बरसाये।

द्वितीय तथा तृतीय वर्ष

युद्ध के दूसरे वर्ष में पूर्व में अपना व्यापार सुरक्षित रखने

के लिये इंगलैंड ने जापान से सन्धि की। अतः जापान ने चीन के किनारे के जर्मन बन्दरगाह क्याचौ पर अधिकार कर लिया। इस सन्धि से जापान का महत्व बढ़ा।

हिंडनवर्ग लाइन पर इस वर्ष खूब जोर की लड़ाई होती रही। अंग्रेज़ और फ्रांसीसियों ने मार्च में एक भारी आक्रमण किया परंतु उन्हें भारी क्षति सहकर लौटना पड़ा। अप्रैल में जर्मनी ने आक्रमण किया और पहली ही बार विषैली गैस (वायु) का प्रयोग किया जिसके छूटते ही सामने की सेनाएँ दम घुट २ कर मरने लगीं और झट रास्ता साफ़ हो गया तथा शेष सेनाएँ भागने लगीं। यह यपर्स स्थान की दूसरी लड़ाई थी। भागती सेना को रोक कर लड़ने में कनाडाकी सेना ने विशेष वीरता दिखायी।

पूर्व में इसी वर्ष अंग्रेज़, फ्रांस आदि ने कुस्तुन्तुनियाँ लेने का विचार किया। इंगलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैंड की सेनाएँ वहाँ भेजी गयीं परंतु जर्मनी और तुर्की सेनाओं ने उन्हें बुरी तरह हरा कर भगा दिया।

इतनी हार पर भी इंगलैंड की स्थिति अभी निर्बल नहीं हुई थी। अब तक समुद्र में उसका प्रभुत्व था, उसका व्यापार खूब चल रहा था। अतः इंगलैंड की सामुद्री शक्ति कम करने के लिये ७ फरवरी १९१५ को जर्मन सरकार ने घोषणा की कि इंगलैंड तथा उसके मित्रों के कोई भी व्यापारिक पोत यदि एक निश्चित सीमा के अन्दर आयेंगे तो फौरन डुबा दिये जायँगे।

इस समय वलगेरिया ने यह देख कर कि जर्मन और तुर्की सेनाएँ हर जगह सफल हो रही हैं, अंग्रेज़ों को भी उन्होंने कई बार हराया है तथा उन्हीं की जीत की आशा है—अक्तूबर मास

में जर्मनी से मेल कर लिया। इस भाँति इधर भी चार देश हो गये, पाँचवाँ अन्त तक कोई न मिला।

जर्मनी की जहाज़ डुबाने की नीति का अमेरिका ने तीव्र विरोध किया। उसने जर्मनी को सूचना दी कि यदि इस भाँति किसी अमेरिकन जहाज़ की हानि हुई तो वह फ़ौरन जर्मनी से उत्तर माँगेगा। इस सूचना पर ध्यान न देकर जर्मनी ने अपनी नीति को जारी रखा।

जर्मनी अमेरिका के भी कई जहाज़ डुबा चुका था। मई मास में वाशिंगटन स्थित जर्मन राजदूत ने सूचना छपवाई कि न्यूयार्क से इंगलैंड को जो ल्यूसीटैनिया नामक बड़ा जहाज़ जाने वाला है उसमें कोई अमेरिकन यात्रा न करे क्योंकि जर्मन पन-डुब्बियाँ उसे डुबाने का पूर्ण प्रयत्न करेंगी। परंतु इस सूचना पर किसी ने विश्वास न किया और ७ मई को ल्यूसीटैनिया २००० यात्रियों को लेकर आयर्लैण्ड के किनारे के पास तक पहुँच गया परंतु वहाँ उसे एकदम एक जर्मन टार्पीडो द्वारा रोक दिया गया और आधे स्त्री पुरुष डुबा दिये गये जिनमें सौ के लगभग अमेरि-कन भी थे। इस समाचार से यूरोप और अमेरिका में बड़ी सनसनी फैली। अमेरिका सरकार ने जर्मनी से भविष्य में ऐसा न करने की गारण्टी माँगी। जर्मनी ने उत्तर दिया कि हमारी पनडुब्बियाँ युद्ध न करने वाले लोगों को बिना उतारे और शेष को बिना सूचना दिये किसी जहाज़ को न डुबाएँगी।

अब आष्ट्रिया और जर्मनी की सेनाओं ने सर्बिया पर आक्रमण किया। सर्व लोग सामना न कर सके। वीरता से लड़ते हुए बहुत से मारे गये और बहुत से जहाज से दूर भेज दिये गये।

इस भाँति सर्विया भी बेलजियम की भाँति नष्ट हो गया। सौभाग्य से इनकी ओर इस संकट के समय मई मास में ही इटली भी आ मिला। इस भाँति जर्मनी को एक दूसरी ओर ध्यान देना पड़ा और युद्ध की तीन दिशाएँ हो गयीं। इधर भी दो वर्ष तक कई लड़ाइयाँ हुईं जिनमें इटली ने आस्ट्रिया से बहुत सी भूमि छीन ली।

तीसरे वर्ष में पश्चिम में जर्मनी ने वर्डून स्थान पर प्रसिद्ध आक्रमण किया जिसका उद्देश फ्रांस को युद्ध-क्षेत्र से अलग करना था।

जटलैण्ड प्रायद्वीप में एक वर्ष तक अंग्रेज़ और जर्मन जलसेना में लड़ाई होती रही। अन्त में अंग्रेज़ विजयी रहे। उधर रूस को हराकर और बालकन में अपनी स्थिति सुरक्षित करके जर्मनी ने वर्डून के पुराने तथा प्रसिद्ध दुर्ग की ओर प्रस्थान किया परन्तु मार्शल पेताँ ने अपने सिपाहियों को हिम्मत दिलाकर, आक्रमण करके जर्मन सेना को पीछे हटा दिया। इसके बाद ही अंग्रेज़ और फ्रांसीसियों ने मिलकर सोम नदी के पास जर्मनी पर आक्रमण किया। इस समय अंग्रेज़ी सेना जनरल हेग के, फ्रांसीसी सेना जनरल फोश के तथा जर्मनी सेना जनरल हिंडनवर्ग के अधीन थी। हिंडनवर्ग हाल ही में पूर्व में विजय प्राप्त करके इधर आ गये थे, तथा उन्होंने अपने शत्रुओं के लगातार कई आक्रमण विफल किये। बड़ी कठिनाई से वे लोग सात मील आगे बढ़ पाये। उन्होंने इसी में अपनी विजय मान ली कि हम जर्मनी को इतने समय तक रोके रहे और उसे थका दिया।

वर्डून पर जर्मनी ने अधिक ज़ोर इस कारण दिया था कि

वहाँ से पेरिस पहुँचने का सब से सुगम मार्ग है और यदि पेरिस जर्मनी को मिल जाता तो फ्रांस का तथा समस्त यूरोप का भी उसी समय निबटारा हो जाता। स्वयं जर्मन युवराज यहाँ पर सेना-नायक थे। फ्रांस ने भी बचाव के लिये अपनी समस्त शक्ति लगा दी। वर्डून तथा सोम की लड़ाइयों में जर्मनी के मरे हुए घायल तथा क़ैदी आदि कुल मिला कर दो लाख से ऊपर मनुष्यों की हानि हुई।

अब तक जर्मनी का ही पक्ष प्रबल रहा था परन्तु १९१६ के मध्य से वह कुछ निर्बल हो चला। वर्डून का घेरा असफल हुआ, सोम में भी वे हराए गये। दूसरी ओर आस्ट्रिया भी इटली से हार गया। रूस ने भी आस्ट्रिया की थोड़ी सी सेना को हरा दिया। रूस को रोकने के लिये आस्ट्रिया को अपनी सेना इटली से—जहाँ इटली को अंग्रेजों से मिल जाने के कारण दण्ड देने को उसने अपनी बहुत सी सेना भेज दी थी—हटाकर फिर उत्तर की ओर भेजनी पड़ी जिससे उसे इटली को दण्ड देने का विचार छोड़ देना पड़ा।

रुमानिया—इसी समय बालकन प्रायद्वीप का छोटा सा देश रुमानिया भी जर्मनी के विरुद्ध छः राष्ट्रों—इंगलण्ड, फ्रांस, रूस, इटली, सर्विया और मान्टीनीग्रो में सम्मिलित हो गया। उसका उद्देश यह था कि आस्ट्रिया के राज्य में जो सहस्रों रुमानियन लोग रहते हैं उन्हें अपने राज्य में मिलाकर अपनी राष्ट्रीय एकता पूर्ण करें। परन्तु उसके सम्मिलित होने से यूरोप में एक और बड़ी दुःखान्त घटना घटी। जर्मनी की सेनाओं ने जो प्रधानतया जनरल हिंडनवर्ग के साथी जनरल लुडेनडर्फ़ के अधीन

थी—रुमानिया में पहुँच कर उसे भी कुचल कर वही गति कर दी जो अब तक बेलजियम तथा सर्विया की हुई थी। इस घटना से आसपास के देश जर्मनी के विरुद्ध लड़ने में शंका खाने लगे और जर्मनी की स्थिति फिर कुछ सुधरती हुई दिखायी देने लगी।

चतुर्थ वर्ष १९१७

रूस में राज्यक्रांति—इस वर्ष की सब से प्रसिद्ध घटना रूस की क्रान्ति है जिसके कारण रूस युद्ध से अलग हो गया। इस महत्वपूर्ण घटना के कारण जर्मनी को एक ओर की चिन्ता मिट गयी और अंग्रेज़, फ्रांस आदि मित्रों की शक्ति कम हो गयी। यदि इस क्षति की पूर्ति अमेरिका ने न की होती तो यह कहना अति सन्दिग्ध है कि युद्ध का परिणाम क्या होता।

रूस में साम्यवादियों और निहिलिस्ट दल के लोगों के असन्तोष का वर्णन हम पहले दे चुके हैं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ से ही वहां निरंकुश शासन के प्रति विरोध के भाव प्रकट होने लगे थे, जिससे अन्त में ज़ार निकोलस को १९०७ में ड्यूमा (पार्लमेन्ट) की बैठक करनी पड़ी। किन्तु इस पर भी ज़ार ने ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि ड्यूमा में उसके विरोधियों की संख्या अधिक न हो सकी। उसने ड्यूमा को दबा लिया। अतः जनता में निरंकुश शासन के प्रति विरोध के भाव वैसे ही बने रहे।

जनरल हिंडनेबर्ग ने १९१५ में रूस को कई बार हराया और इसके बाद भी रूस ने कोई महत्वपूर्ण विजय प्राप्त न की। इससे वहाँ के लोग अपनी सरकार की निन्दा और आलोचना करने लगे। यह भी सन्देह होने लगा कि अपनी सेनाओं को

हराकर सेना तथा प्रजा को निर्बल करके ज़ार अपनी शक्ति और बढ़ाना चाहता है जिससे वह और भी अधिक निरंकुश हो जाय। ड्यूमा ने उत्तरदायी मंत्रिमण्डल की स्थापना के लिये ज़ोर दिया, सेना तथा जनता ने भी इसका समर्थन किया और यही बात प्रकट करने के लिये मास्को में २५ हज़ार और पेट्रोग्राड में एक लाख श्रमजीवियों ने हड़ताल कर दी और भूख के कारण कुछ दिनों में वे लोग कानूनों का उल्लंघन करने लगे। सेना को ऐसे लोगों पर गोली चलाने की आज्ञा दी गयी किन्तु अनेक सिपाहियों ने ऐसा करने से इनकार कर दिया।

११ मार्च १९१६ को ज़ार निकोलस ने ड्यूमा को भंग कर दिया परन्तु उसने भी भंग होने से इनकार कर दिया। ये सब बड़े भयंकर चिह्न थे। स्थिति बिगड़ती जाती थी। नगर विद्रोह के लिये तैयार था। गलियों में इधर उधर लोग पुलिस के सिपाहियों से लड़ने लगे। विद्रोहियों ने अनेक मंत्रियों तथा सरकारी अफसरों को पकड़ लिया और कई इमारतों पर अपना अधिकार कर लिया। ड्यूमा ने एक नये शासन-प्रबन्ध की भी घोषणा की और ज़ार से सिंहासन छोड़ने के लिये कहा। ज़ार ने कोई उपाय न देख कर इसे स्वीकार कर लिया और इस भाँति ३०० वर्ष पूर्व स्थापित रोमनफ़ वंश का सदा के लिये अन्त हो गया।

नयी सरकार में तीन श्रेणियों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। धनिक (जागीरदार तथा बड़े व्यापारी), जनसाधारण तथा श्रमजीवी। जागीरदारों का प्रतिनिधि प्रिंस लोफ़, जो उदार विचार का था, मंत्रिमण्डल का मुखिया हुआ। इस सरकार ने फ़िनलैण्ड में सुधार किये, पोलैण्ड को स्वराज्य देने का वचन दिया और

यहूदियों को सब बातों में समानता के अधिकार दिये। देश निर्वासितों के अपराध क्षमा कर दिये गये जिससे वे घर लौट आये।

परन्तु क्रान्ति आरंभ होकर सदा एक ही ढंग पर नहीं बहती। उसमें अति शीघ्र परिवर्तन होते जाते हैं। रूस में भी यहा हुआ। श्रमजीवी दल ने—जो साम्यवादी था—सोवियट अर्थात श्रमजीवियों और सिपाहियों की सभाएँ स्थापित कीं जिनमें पेट्रोग्राड की सभा प्रधान थी। उन्होंने नयी सरकार का विरोध किया। प्रधान मंत्री ने घोषणा की थी कि रूस विजय प्राप्त करने तक युद्ध से अलग नहीं होगा परन्तु सोवियट ने इसका भी विरोध किया। श्रमजीवियों का प्रतिनिधि करन्स्की युद्ध मंत्री नियत हुआ जो शान्ति का पक्षपाती था।

अब करन्स्की रूसी राजनीति में प्रधान हो गया। रूसी सेना में अनेक दोष तथा दुराचार फैल रहे थे तथा सैनिक अपने अफ़सरों की आज्ञा की अवज्ञा भी करने लगे थे। करन्स्की कुछ काल तक उन्हें सुधारने में सफल हुआ। जुलाई १९१७ में वह नयी सरकार का प्रधान मंत्री हो गया और इस पद पर ७ नवम्बर तक रहा, जब वह बोलशेविकों द्वारा हटा दिया गया। उसके हटाने का कारण यह था कि उसके समय में रूस में सर्वत्र अव्यवस्था थी, सेना निर्बल और अपने देश की रक्षा करने में असमर्थ थी जिससे जर्मनी नें विना किसी लड़ाई झगड़े के रीगा नगर ले लिया।

इन कारणों से नवम्बर के आरम्भ में ही शासन की बागडोर बोलशेवियों के नेताओं—लेनिन और ट्राटस्की ने अपने हाथ में ले ली। पुराने मंत्रियों को क़ैद कर लिया और सैनिक स्थलों पर

भी अधिकार कर लिया। करन्स्की भाग गया और बहुत दिन बाद उसका लन्दन में पता लगा। अब लेनिन रूस का प्रधान मंत्री नियत हुआ और ट्रॉटस्की हुआ विदेश-सचिव। क्रांति के ये दो ही प्रधान मनुष्य हैं।

लेनिन ने शीघ्र ही अपनी नीति की घोषणा की कि देश में शान्ति स्थापित की जायगी, सब की वैयक्तिक जायदाद ज़ब्त की जायगी तथा सोवियट रूस की प्रधान शासक-सभा रहेगी। ये लोग बढ़े हुए साम्यवादी थे। इन्होंने आस्ट्रिया अथवा जर्मनी से युद्ध अस्वीकार करके जायदाद छीन कर अपने ही जाति-बान्धवों से लड़ना स्वीकार किया।

इन्होंने १५ दिसम्बर को जर्मनी की कड़ी शर्तों पर भी दस्तख़त कर दिये, क्योंकि इनका सिद्धान्त था कि कोई देश किसी अन्य देश में न मिलाया जाय, तथा जनता की इच्छानुसार कार्य किया जाय।

प्रत्येक रूसी सिपाही को स्वतन्त्रता मिल गयी कि वह जो चाहे करे। अतः हज़ारों सैनिक युद्ध-स्थल छोड़ कर अपने अपने घर चले गये।

शीघ्र ही विशाल रूसी साम्राज्य के भी खण्ड हो गये। फिनलैंड, यूक्रेटन और साइबेरिया ने रूस से अलग होकर प्रजा-तंत्र स्थापित किये। पोलैण्ड और लिथूनिया जर्मनी ने ले लिये। इस भाँति रूस को अपने साम्राज्य का एक बड़ा भाग जो जर्मन साम्राज्य से भी विस्तार में दूना था और जिसकी जन-संख्या ६॥ करोड़ थी, छोड़ना पड़ा। महान पीटर से लगा कर निकोलस द्वितीय तक सम्राटों ने जो साम्राज्य बढ़ाया था उसे रूसी बाल-

शेवियों ने एक साल से कम समय में ही गवाँ दिया। यह जर्मनी की भारी विजय हुई।

युद्ध की ओर

१९१७ में ही सन्धि की चर्चा भी चलना आरम्भ हुई। परन्तु जर्मनी ने अपनी शर्तें विजयी के रूप में उपस्थित की थीं, जिन्हें मानने से सब देशों ने इनकार कर दिया। अमेरिका ने भी कहा कि दोनों दल अपनी २ शर्तें स्पष्ट लिखें। इस पर मित्रों (इङ्गलैण्ड, फ्रांस आदि) ने शर्तें लिखीं जिनमें प्रधान ये थीं—बेलनियम, सर्विया और मान्टीनीग्रो की क्षतिपूर्ति और स्वतंत्रता। फ्रांस, रूस और रोमानिया के अधिकृत देशों से जर्मन सेना हटाना और उनकी क्षतिपूर्ति। युद्ध से पहले भी जो देश जर्मनी ने वहाँ की प्रजा की अनिच्छा पूर्वक लिये हों, उन्हें लौटाना आदि। परंतु जर्मनी ने ऐसी कड़ी शर्तें मानने से इनकार कर दिया। अतः सन्धि न हो सकी।

२२ जनवरी १९१७ को अमेरिका के प्रेसीडेण्ट विल्सन ने सीनेट में एक व्याख्यान में उन सिद्धान्तों की चर्चा की जिन पर स्थायी शान्ति की सम्भावना उन्हें दिखाई दी। उन प्रसिद्ध चौदह सिद्धान्तों में से प्रधान ये ८ थे:—१—सरकार शासितों की इच्छा से ही सब शक्ति प्राप्त कर सकती है तथा उसे भूमि आदि जायदाद के समान अपनी प्रजा को किसी दूसरे देश अथवा राजा को दे देने का कोई अधिकार नहीं है। २—किसी राष्ट्र की नीति अन्य राष्ट्रों को हानिकारक नहीं होना चाहिये, प्रत्येक देश को बिना डराये धमकाये अपनी नीति स्थिर करने का अवसर देना चाहिये। ३—कोई गुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौता न होना

चाहिये। ४—जर्मनी को बेलजियम की क्षतिपूर्ति करना चाहिये तथा अधिकृत देशों से अपनी सेना हटाना चाहिये। ५—सेना, जलसेना आदि की वृद्धि तथा युद्ध की अन्य तैयारियाँ रोकने तथा शान्ति की गारण्टी के लिये प्रबल सभ्य राष्ट्रों का एक संघ स्थापित होना चाहिये आदि।

इंगलैण्ड के समान अमेरिका ने भी युद्ध में हस्तक्षेप करने का कारण सबलों से निर्बलों की रक्षा करना बताया। प्रेसीडेन्ट विलसन को विश्वास था कि वे यूरोप में मध्यस्थ की भाँति बुलाये जाँयगे किन्तु उन्हें वैसे ही आना पड़ा।

अमेरिका के युद्ध में सम्मिलित होने के कारण

अपनी क्षति सह कर भी जर्मनी ने जहाज़ न डुबाने के वचन को डेढ़ साल तक निबाहा। किन्तु अंग्रेज़ों की शक्ति कम करने का जहाज़ डुबाने के अतिरिक्त और कोई उपाय न था। अतः वह फिर जहाज़ डुबाने लगा जिससे अमेरिका बहुत अप्रसन्न हुआ।

इसी समय जर्मनी ने एसेक्स नामक एक जहाज डुबाया जिसमें दो अमेरिकन भी थे। इस पर क्रुद्ध हो कर अमेरिका ने एकदम अपने देश के जर्मन राजदूत को पासपोर्ट देकर जाने का रास्ता बता दिया जिसका अर्थ यह था कि उसने जर्मनी से सब राजनैतिक सम्बन्ध तोड़ दिया।

कुछ ही दिन बाद जर्मनी ने मेक्सिको को सहायता के लिये एक पत्र लिखा जिसके कारण अमेरिका भी इंगलैण्ड आदि की ओर आ मिला।

प्रेसीडेन्ट विलसन की सलाह से वहाँ की कांग्रेस ने घोषित

किया कि जर्मन सम्राट् की जहाज़ डुबाने की नयी नीति संयुक्त राज्य के प्रति युद्ध से कम नहीं है। अतः वे भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा करते हैं और इंगलैण्ड आदि की ओर मिलते हैं। इस समाचार को सुनकर इंगलैण्ड में एकदम भारी हर्ष फैल गया। उसे अपनी विजय का पूर्ण भरोसा हो गया। समस्त गिरजों में हर्ष की घण्टियाँ बजीं और पार्लमेन्ट भवन के ऊपर इंगलैण्ड के राष्ट्रीय झण्डे यूनियन जैक के साथ २ अमेरिका का झन्डा भी फहराया गया।

कुछ ही दिनों में अमेरिका की एक दृढ़ सेना जनरल पर्शिंग के नेतृत्व में फ्रांस के किनारे आकर उतरी। युद्ध से थके हुए तथा निराश फ्रांसीसियों ने अपूर्व हर्ष से उनका स्वागत किया और बड़ी कृतज्ञता प्रदर्शित की।

अमेरिका ने अपनी जलसेना का भी सबसे अच्छा भाग यूरोप को भेजा।

यूरोप में इस समय रूस की क्रान्ति के कारण उसके अलग हो जाने से इटली पर आफ़त आ गयी। जर्मनी ने पूर्व की ओर से बहुत सी सेना इटैलियनों के मुक़ाबले के लिये भेज दी और इस भारी हमले को वे न रोक सके। दो वर्ष के कड़े परिश्रम से इटलीवालों ने जो कुछ जीता था, सब उनके हाथ से निकल गया और जर्मनी ने वेनेशिया पर भी अधिकार कर लिया। यह सब १९१७ के अक्तूबर और नवम्बर में हुआ। इटली की ४, ००० वर्गमील भूमि पर जर्मनी का अधिकार हो गया और इटली के दो लाख मनुष्य जर्मनी ने क़ैद किये।

अब तक पूर्वी यूरोप और पश्चिमी एशिया में सर्वत्र जर्मनी

की विजय थी। जर्मनी, आस्ट्रिया और बलगेरिया ने मिल कर सर्विया का सामना किया और बेलग्रेड पर अधिकार कर लिया तथा एक अंग्रेज़ और फ्रांसीसियों की सम्मिलित सेना को भी हराकर भगा दिया जिससे सर्वियन लोग निराश्रय होकर जंगल पहाड़ों में भागते फिरे, और जो बचे उन्होंने कार्फू द्वीप में जाकर आश्रय लिया। इस भाँति सर्विया नष्ट हो गया।

एशिया में युद्ध—इसी समय एक अंग्रेज़-फ्रांसीसी सेना ने डार्डेनेल्स होकर कुस्तुन्तुनिया पहुँचने का प्रयत्न किया परन्तु जर्मनी और तुर्की की सेना ने उसकी बड़ी दुर्गति की। शीघ्र ही अंग्रेज़, फ्रांस आदि मित्रों की एक सेना—जिसमें आस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड की सेना भी सम्मिलित थी बुरी तरह हारी और उसे गेलीपोली में आश्रय लेना पड़ा। जर्मनी का प्रभाव रोकने के लिये जनरल टाउनशेंड के नेतृत्व में एक भारतीय सेना भेजी गयी जो कुछ समय तक वीरता से लड़ती हुई आगे बढ़ती गयी और बग़दाद तक पहुँच गयी परंतु अन्त में तुर्की सेना ने उसे भी हरा दिया। इस भाँति १९१६ तक पूर्व में भी जर्मनी बहुत प्रबल रहा।

परन्तु १९१७ में इधर भी अंग्रेज़ों की स्थिति सुधर चली। उन्होंने मार्च में एक और सेना भेजी जिसने बग़दाद में घेरा डाला परंतु उसके भी १०,००० सैनिक तुर्कों ने क़ैद करके उसे भगा दिया। अब जनरल एलेनबी के अधीन एक और बड़ी सेना भेजी गयी जिसने मेसोपोटामिया और फिलिस्तीन में विजय प्राप्त की और फिर बग़दाद भी ले लिया और वर्ष के अन्त में प्रसिद्ध प्राचीन नगर जरूसलेम पर भी उसका अधिकार हो गया।

तेरह सौ वर्ष बाद इस पवित्र स्थान के फिर ईसाइयों के हाथ में आने से यूरोप भर में बड़ा हर्ष मनाया गया।

पञ्चम वर्ष १९१८

रूस के युद्ध से हट जाने के कारण जर्मनी ने पूर्व से हटा कर कुछ सेना पश्चिम की ओर इस विचार से भेजी कि अमेरिका की सहायता आने से पहले ही शत्रुओं को हरा दिया जाय। अतः उसने पेरिस की ओर प्रस्थान किया और तोपों की एक बड़ी कतार से पेरिस को उड़ाना आरंभ कर दिया जो वहाँ से ७५ मील दूर था। इनमें एक बम का गोला शुक्रवार के दिन पेरिस के एक गिर्जे में गिरा जहाँ पर बहुत से लोग इकट्ठे होकर प्रार्थना कर रहे थे। उनमें से ७५ मर गये और ९० घायल हुए।

जर्मनी की इस भारी सेना ने अंग्रेज–फ्रांसीसी सेना को मार कर भगा दिया। इस लिस स्थान की लड़ाई में फ्रांस और इङ्गलैंड की भारी क्षति हुई। यह स्थिति उनके लिये बड़ी भयंकर थी। एक के बाद एक नगर जर्मनी के अधीन होता था। अतः अब उन्होंने अमेरिका से और सेना अति शीघ्र भेजने की प्रार्थना की।

इस लड़ाई के बाद अंग्रेज–फ्रांस दल की एक सब से बड़ी कमजोरी की बात दूर हो गयी। अब तक उनकी सेनाएँ अपने अपने सेनापतियों के नीचे अलग २ लड़ी थीं किन्तु अब अंग्रेज़ी, फ्रांसीसी, बेलजियन, पुर्तगीज़, इटैलियन और अमेरिकन आदि जितनी सेनाएँ थीं, सब एक साथ मिल कर फ्रांसीसियों के सेनापति फोश के नेतृत्व में लड़ने लगीं। शीघ्र ही अमेरिका से भी प्रतिमास दो तीन लाख सेना आना आरंभ हो गयी जो अन्त तक आती रही।

२७ मई को जर्मनी ने स्वांसा और रैन्स के बीच में तीसरा बड़ा हमला किया और अंग्रेज़ों को पीछे हटा कर तीन दिन में तीस मील जगह दाब ली और स्वांसा पर भी कब्ज़ा कर लिया। अंग्रेज़-दल की स्थिति बड़ी गंभीर थी। यह समय जर्मनी के लिये अपनी जान लड़ा देने का था। इस हमले को वह 'संधि का हमला' कहता था क्योंकि उसका विश्वास था कि इसी हमले से वह शत्रुओं को हरा कर उन्हें संधि की प्रार्थना करने के लिये बाध्य कर देगा, किन्तु ऐसा करने में वह असफल रहा।

अंग्रेज़ी जनरल हेग ने अपने सिपाहियों से बड़े वीर शब्दों में अपील की परन्तु फिर भी वे यपर्स स्थान पर हार गये। मई में ही जर्मन लोग पेरिस से ४० मील की दूरी पर आ गये थे और फ्रांस की एक हज़ार मील भूमि पर उन्होंने अधिकार कर लिया था। वे बढ़ते ही जाते थे और अन्त में उन्होंने मार्न को भी पार कर लिया, जहाँ उन्हें बहुत सी सामग्री प्राप्त हुई। इस के बाद उसने एक जगह पर अपनी पाँच लाख सेना इसलिये जमा की कि रैन्स और मार्न नदी के बीच में आख़िरी हमला किया जाय। १५ जुलाई को उसने अंग्रेज़-फ्रांस दल की ५५ मील तक सामने फैली हुई सेना पर हमला किया। यह मार्न नदी की दूसरी लड़ाई कही जाती है। मार्न नदी की ये दोनों लड़ाइयाँ-सितम्बर १९१४ की पहली लड़ाई और जुलाई १९१८ की दूसरी-दुनिया के इतिहास में सबसे बड़ी लड़ाइयाँ हैं।

इस समय तक जनरल फ़ोश ने अपनी फ़ौज को दुरुस्त कर लिया। दूसरा फ्रांसीसी जनरल गूरो रैन्स के पूर्व में २५ मील तक फैली हुई जर्मन सेना के हमले को रोकने के लिये भेजा;

गया। पहले वह कुछ पीछे हट गया। जब जर्मनों ने हमला किया तो उन्हें सिर्फ खाली खाइयाँ मिलीं, जिनमें घुसते ही फ्रांसीसियों की सैकड़ों तोपें उन पर गोला बरसाने लगीं। उस दिन शाम तक जनरल गूरो ने जर्मनी के पच्चीस डिवीज़नों को जिनमें ढाई लाख आदमी थे—बिलकुल बरबाद कर दिया।

१८ जुलाई को जनरल फ़ोश ने फ्रांसीसियों को आक्रमण करने की आज्ञा दी, जो कुछ दिन तक लड़ते रहे। ८ अगस्त को फ्रांसीसी और अंग्रेज़ों ने मिल कर दूसरा हमला किया जिसमें जर्मनी की बहुत क्षति हुई।

अब जर्मन लोग लड़ते २ थक गये थे और इधर अमेरिका से अंग्रेजों की ओर ८३००० सैनिक आये जो प्रतिमास दूने, तिगुने, चौगुने और पंचगुने तक बढ़ते गये। यहां तक कि नवंबर में यूरोप में अमेरिका की २० लाख सेना आ गयी। इस भांति अंग्रेज़ों की सेना जर्मनी से बहुत अधिक हो गयी। फलतः युद्ध का क्रम भी बदल गया। अब अंग्रेज़-फ्रांस दल ने एक भारी हमले का प्रबंध किया और जर्मन सेना मार्न नदी के पास हराकर पीछे हटा दी गयी। यद्यपि जर्मन बड़ी वीरता से लड़ते रहे, फिर भी अब वे स्थान २ पर हारते गये। अक्तूबर में कांब्रे पर भी अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया जो हिंडनबर्ग लाइन के किनारे पर हा था और अन्त में सुदृढ़ हिंडनबर्ग लाइन भी टूट गयी और जर्मनी को फ्रांस की सीमा पर से बेलजियम की ओर प्रस्थान करना पड़ा।

इस भांति इधर जब जर्मनी की हार हो रही थी तो पूर्व में उसके मित्रों पर भी आपत्ति आ गयी थी। फ्रांस और सर्विया

की सेना ने मिलकर बलगेरिया की सेना को करारी मात दे दी थी, जिससे सितंबर में ही वह सन्धि की प्रार्थना करने लगा और बहुत कड़ी शर्तों पर भी इसने सन्धि स्वीकार कर ली कुछ ही दिन बाद वहां का ज़ार फर्डिनेन्ड अपने पुत्र बोरिस को गद्दी देकर अलग हो गया परन्तु बोरिस एक मास बाद ही गद्दी से उतार दिया गया और वहां कुछ दिन के लिये प्रजातंत्र राज्य स्थापित हो गया।

बलगेरिया की सेना की हार के दो दिन बाद ही जनरल एलेनबी के नेतृत्व में अंग्रेज़ी सेना ने तुर्की सेना को बुरी तरह हरा दिया। (फिलिस्तीन में) १ अक्टूबर के पहले ही दमिश्क और बेरूत पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया और ८०,००० तुर्क सिपाही क़ैद हुए। बर्लिन बगदाद रेलवे भी अंग्रेज़ों के हाथ में आ गयी।

इस भाँति बलगेरिया के अलग हो जाने से, पश्चिमी एशिया में तुर्की की हार होने से और यूरोप में जर्मनी की स्थिति निर्बल होने से, जर्मनी, आस्ट्रिया हंगारी और तुर्की ने एक साथ ही अमेरिका के प्रेसीडेन्ट विल्सन से 'जल, स्थल और आकाश' में युद्ध बन्द करके संधि की प्रार्थना की (५ अक्तूबर) और यहीं आगे की सन्धि की नींव पड़ी जिसमें विल्सन के १४ सिद्धान्त बहुत कुछ कार्यान्वित किये गये।

संधि-चर्चा—कुछ लिखा पढ़ी होने के बाद यह मामला फ्रांस-स्थित मित्रों की एक विशेष युद्ध-सभा के सुपुर्द कर दिया गया। इसी समय तुर्की ने भी हार कर सन्धि कर ली जिसके अनुसार बास्फ़ोरस और डार्डेनल्स के मुहाने सब के लिये खुल

गये और उनके पास के कुछ स्थलों पर अपनी सेना रखने का अधिकार विजयी-दल को मिल गया।

कुछ ही दिन बाद आस्ट्रिया हंगरी ने इटली में एक हार खाकर और निराश होकर तुर्की के समान शर्तों पर सन्धि कर ली। अधिकृत स्थानों से उसे अपनी सेना हटानी पड़ी और अब तक जीते हुए सब स्थान वापिस देने पड़े तथा क़ैद किये हुए सैनिक छोड़ने पड़े। उसे अपनी जल सेना का एक भाग भी विजयियों को देना पड़ा और जर्मनी की सेनाएँ अपने यहां से हटानी पड़ीं।

आस्ट्रिया को जिस बात का भय था वही हुई। उसके राज्य में भिन्न २ जातियों का सम्मिश्रण था। अतः उसे साम्राज्य के खण्ड २ हो जाने का बड़ा भय था, और इसी को बचाने के लिये उसने जल्दी से सन्धि करली थी। किन्तु सन्धि से आस्ट्रिया बिलकुल निर्बल कर दिया गया। उसका साम्राज्य लुट गया। जेको स्लोवक लोग अलग स्वतंत्र कर दिये गये तथा हंगरी भी आस्ट्रिया से अलग होकर स्वतंत्र हो गया।

इसी समय वर्सेल नगर में बैठी हुई विजयी-दल की सभा ने वे शर्तें तैयार कर लीं जिन पर वे सन्धि करने को तैयार थे और जर्मन सरकार को सूचना दी गयी कि उसके भेजे हुए प्रतिनिधियों को मार्शल फ़ोश सन्धि की शर्तें सुनायेंगे। तदनुसार शुक्रवार ८ नवंबर को जर्मन प्रतिनिधि-मण्डल फोश के दफ़्तर में पहुँचा। फोश ने उन्हें सोमवार के ११ बजे तक स्वीकृति अथवा अस्वीकृति की अवधि देकर सन्धि-पत्र दे दिया। अवधि के कुछ समय

पहले ही निराश जर्मन प्रतिनिधियों ने उन कड़ी शर्तों पर अपने हस्ताक्षर कर दिये।

इन शर्तों में प्रधान ये थीं—

१—जर्मन सेनाएँ अधिकृत स्थानों को वहाँ के लोगों को सताए अथवा लूटे बिना शीघ्र खाली कर दें और राइन नदी के ६ मील पार चली जायँ।

२—जर्मनी अपनी कुल पनडुब्बियों को जो ७१ थीं तथा कुछ अन्य जहाज़ों को विजयी दल के हवाले कर दें।

३—विजयी दल के सब देशों के कैदियों को जर्मनी तुरन्त छोड़ दे।

४—आक्रान्त देशों की जो भूमि तथा जायदाद ली गयी है वह वापिस दी जाय तथा उनकी क्षतिपूर्ति की जाय, आदि।

ऐसी शर्तें स्वीकार करना जर्मनी के लिये आत्मसमर्पण कर देने के समान था क्योंकि वह इतना निर्बल कर दिया गया था कि भविष्य में कभी सिर न उठा सके। सन्धि पर हस्ताक्षर होने के पहले ही क़ैसर विलियम अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को इस भांति विफल होते देख कर निराशा से पागल हो गये और उन्होंने हालैण्ड में जाकर आश्रय लिया, क्योंकि जर्मनी में उसी समय कील स्थान में क्रान्ति का आरंभ हो गया था। जर्मनी में भी कम्युनिस्ट लोगों का प्रभुत्व दिखायी देने लगा। प्रत्येक रियासत तथा नगर में साम्यवाद तथा विद्रोह का प्रचार होने लगा। हेम्बर्ग, ब्रेमैन, टिलासिट, बवेरिया, ब्रन्सविक, कोलोना, ओल्डनबर्ग, सेक्सनी आदि सभी जगह साम्यवादियों का लाल झण्डा फहराने लगा। परन्तु जर्मनी की राष्ट्रीय शासन-विधायक सभा ने

इस आन्दोलन को दवाकर एक नयी शासन-पद्धति तैयार की जिसके अनुसार जर्मन साम्राज्य प्रजातंत्र में परिवर्तित हो गया।

नवम्बर के आरंभ में ही यह समाचार सुना गया कि जर्मन युवराज फ्रेडरिक विलियम भी राज्य से अलग हो गये और एक साम्यवादी एवर्ट जर्मनी के राष्ट्र-पति चुने गये हैं।

इस भांति महायुद्ध के परिणाम स्वरूप जर्मन-साम्राज्य का अन्त हो गया तथा उसके साथ ही साथ आस्ट्रिया और तुर्की के साम्राज्य भी छिन्न भिन्न हो गये। यूरोप में प्रजातंत्र राज्यों की संख्या बढ़ गयी।

अठारहवाँ अध्याय

युद्ध की कुछ महत्वपूर्ण बातें

अमेरिका का युद्ध में भाग—अमेरिका की सेना ने यूरोप में ऐसे समय पदार्पण किया जव सर्वत्र जर्मनी की विजय हो रही थी, अंग्रेज़–फ्रांस आदि सभी घवड़ाये हुए थे तथा विजय से प्रायः निराश से हो चुके थे। अमेरिकन सेनाओं ने ऐसे कठिन अवसर पर आकर फ्रांस की थकी हुई और निराश सेना को सान्त्वना देकर जर्मनी की वृद्धि रोकी। दस दिन वाद ही अमेरिकन सेना ने जंगल में स्थित जर्मनी के एक तोपों के अड्डे पर आक्रमण किया और तीन सप्ताह तक कठिन युद्ध के वाद उन्हें भगा दिया। फ्रांस ने प्रसन्न होकर इस जंगल का नाम 'मेरीन-ब्रिगेड जंगल' रख दिया क्योंकि उसमें अमेरिका की जल और स्थल दोनों की सेनायें सम्मिलित थीं।

अमेरिका से लगातार दिन दूनी रात चौगुनी सेना यूरोप में आती रही तथा अस्पताल, बारूद तथा अन्य सामान भी बहुत आया। वहाँ के आदमियों ने फ्रांस में बहुत से जंगलों में से काम के लिये लकड़ी काटी तथा सड़कें, तार आदि दुरुस्त किये। युद्ध में भेजी हुई सेना की जगह भरने के लिये अमेरिका ने १८ और २५ वर्ष के बीच के आदमियों की नयी भरती आरंभ कर दी और इस प्रकार सवा करोड़ नयी सेना भरती हुई। प्रेसीडेण्ट विल्सन ने कहा—'हम पूर्ण निश्चयात्मक विजय प्राप्त करना चाहते हैं और इसके लिये हम निरन्तर सेना भेजते रहेंगे।' इस भाँति १९१९ तक फ्रान्स में अमेरिका की चालीस लाख सेना पहुँचायी गयी तथा दस लाख और अमेरिका में रिज़र्व रखी गयी।

अमेरिका ने अपनी जलसेना का भी सब से अच्छा भाग यूरोप को भेजा। वहाँ पर बीस और तीस वर्ष की आयु के बीच के एक करोड़ मनुष्यों के नाम रंगरूटों में लिखे गये थे। चालीस २ हज़ार सैनिकों के ठहराने योग्य १६ छावनियाँ नयी भर्ती के लिये बनायी गयीं। इन तैयारियों के लिये, तथा जर्मनी द्वारा नष्ट किये गये व्यापारिक जहाज़ों की जगह नये जहाज़ तथा वायुयान बनाने और मित्र-राष्ट्रों को ऋण देने के लिये वहाँ की कांग्रेस ने अरबों रुपयों की स्वीकृति दे दी जो कर बढ़ाकर वसूल हुए।

इसके अतिरिक्त अन्य ऊपरी कामों में भी उसके लाखों आदमी लगे थे क्योंकि आज कल के युद्धों में सैनिकों के अतिरिक्त बारूद, मशीनगनें, इंजिन, गाड़ियाँ, मोटरें आदि चलाने

और दुरुस्त करने के लिये हज़ारों ऊपरी मनुष्यों की आवश्यकता होती है।

अमेरिका की सेना ने कई स्थानों पर अंग्रेज-फ्रांस आदि को हारने से बचाया और कई वार जर्मनी पर आक्रमण करके उसे भारी क्षति पहुँचायी। मार्न, सेन्ट मिहील, आरगोन जंगल आदि स्थानों पर अमेरिका की ऐसी विजय हुई जिसने जर्मनी का भाग्य पलट दिया और उसे निराश कर दिया। युद्ध में अमेरिका के कुल २,१५,४२३ मनुष्य घायल हुए। ३४,८४४ मरे और ४२,८०० आकस्मिक घटनाओं से मरे।

अमेरिका की कई समितियों ने घायलों की सहायता, तथा चिकित्सा का वहुत काम किया, जिनमें अमेरिकन रेड क्रॉस, यंगमैन्स क्रिश्चियन एसोसियेशन, ज्यूइस वेलफेयर वोर्ड तथा साल्वेशन आर्मी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये अधिकांश वहां की जतना की सहायता से ही चलायी जाती थीं, केवल रेड क्रॉस सभा को ही ४० करोड़ डालरों की सहायता मिली थी जो आज तक किसी भी अन्य संकट-निवारक सभा को नहीं मिली है।

युद्ध में कनाडा का भाग

इस युद्ध में महान ब्रिटिश साम्राज्य के सभी अंगों—कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारतवर्ष, न्यूज़ीलैण्ड, दक्षिणी अफ्रीका आदि—ने पूर्ण सहायता दी। कनाड़ा ने भी वहुत अधिक सहायता दी।

युद्ध के आरंभ होते ही कनाड़ा ने अंग्रेज़ों की सहायता के लिये सेना तैयार करना आरंभ कर दिया और १९१५ के मध्य में उसकी सेना यूरोप की पश्चिमी सीमा पर आ गयी और यपर्स की दूसरी लड़ाई में—जहाँ जर्मनी ने विषैली गैस का पहली ही

बार प्रयोग किया था—उन्होंने भग्न सेना को बड़ी वीरता से साधा और आठ हज़ार मनुष्यों की क्षति सह कर इंगलिश-चैनल के बन्दरों को जर्मनी के हाथों में जाने से बचा लिया।

दूसरे वर्ष भी उन्होंने कई स्थानों पर अपने मित्रों की सहायता की। सोम नदी की भारी लड़ाई (जुलाई से नवम्बर तक) में उन्होंने आस्ट्रेलिया तथा न्यूज़ीलैण्ड की सेना के साथ बड़ी वीरता दिखलायी। उन्होंने जर्मनी से कई महत्वपूर्ण स्थान छीने और अंततक जर्मनी पर आक्रमण करने तथा उसके आक्रमणों को रोकने में वे भाग लेते रहे। इस भांति चार वर्ष में उसकी ४,१८,००० सेना में से १,५६,००० घायल हुए और ५०,००० से अधिक मरे जिनमें अधिकांश वहां के नवयुवक थे।

भारत का युद्ध में भाग

अंग्रेजों की इस भारी विपत्ति के समय समस्त भारत ने एकस्वर से उनकी सहायता करना निश्चित किया। महात्मा गान्धी, लोकमान्य तिलक, सर सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि सब नेताओं ने अंग्रेजों की सहायता के लिये भारतवासियों से अपील की और भारतीयों ने पिछले सब झगड़ों और सरकार के साथ वैमनस्यों को भुलाकर धन-जन की पूरी सहायता दी। गाँव २ में रंगरूटों की भरती होने लगी। फिर भी अधिकारियों ने सहस्रों मनुष्य ज़बरदस्ती भर्ती किये। युक्तप्रान्त और पंजाब के अनेक गाँवों में इस प्रकार अनेक घर खाली हो गये। दिल्ली में कुतुबमीनार के पास के एक गांव में अब तक लिखा हुआ है कि इस छोटे से गाँव ने युद्ध में हज़ारों मनुष्य भेजे, जिनमें से बहुत से मर गये।

देशी राज्यों ने भी इस संकट के समय तन, मन और धन से पूरी सहायता दी। युद्ध आरम्भ होते ही मैसूर ने ५० लाख और हैदराबाद ने ६० लाख रुपये युद्ध के फंड में दिये और कई पलटनें भेजीं। ग्वालियर आदि कुछ राज्यों ने मिलकर एक अस्पताली जहाज़ भेजा तथा कई पल्टनें भी अलग भेजीं। इसके अतिरिक्त जोधपुर, बीकानेर, किशनगढ़, रतलाम, पटियाला आदि कई रिसायतों के शासक स्वयं युद्ध में गये जिनमें जोधपुर के संरक्षक सर प्रतापसिंह बहादुर ने बहुत नाम कमाया। इसके अतिरिक्त सभी रियासतों ने यथाशक्ति धन-जन की सहायता दी और युद्ध फंड में भारत से करोड़ों रुपया जमा हुआ।

ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफ़ेसर गिलबर्ट मरे ने भारतवासियों के विषय में लिखा था—'अनेक अंग्रेज़ों के हृदय, साम्राज्य के भिन्न २ भागों और सब से ऊपर भारतवर्ष से आये हुए सन्देशों और दानों को सुन कर अमित कृतज्ञता से भर गये होंगे। वह मनुष्य जिसने भारत की ओर कुछ ध्यान दिया है और जिसके भारतवासियों में कुछ मित्र हैं, शुष्क आँखों से कभी भी उन सन्देशों को नहीं पढ़ सकता जो कि भारत की भिन्न २ जातियों, भारत के भिन्न २ धर्मवालों, हिन्दू मुसलिम सभाओं, राजाओं तथा अन्य लोगों की ओर से आये हैं। हमने भारत के शासन में सहानुभूति नहीं दिखायी है, हमने सदा वहाँ बुद्धिमानी से काम नहीं लिया है, फिर भी भारतियों ने हमारी इतनी सहायता की। हमारे ऊपर कठिन समय आ जाता यदि भारतवासी बिलकुल राज्यभक्ति न दिखाते किन्तु उन्होंने, हम जितने के योग्य थे, उससे अधिक सहायता दी है। इसको न भारतीय और न अंग्रेज़ ही कभी भूल सकते हैं।'

युद्ध के समय बांकुरा, राजपूताना, कठियावाड़ तथा कच्छ आदि स्थानों में अकाल था, किन्तु फिर भी भारतीयों ने अंग्रेज़ों की यथाशक्ति—बल्कि शक्ति से अधिक सहायता की। उनके ऊपर भारी सेना का भार वैसे ही लदा हुआ है, कर बहुत बढ़े हुए हैं और उस समय भी थे किन्तु उन्होंने बढ़े हुए कर को देने में चूँ तक नहीं की, क्योंकि उस कर से संकट के समय में साम्राज्य की रक्षा में सहायता मिलती थी।

भारतीय सेना फ्रान्स, फ्लैन्डर्स (बेलजियम), मिश्र, मेसोपोटामिया, चीन तथा पूर्वी अफ्रिका में बड़ी वीरता से लड़ी। फ्रांस में जर्मनी के एक भारी हमले को, जिसके भय से फ्रांस आदि काँप रहे थे, भारतीय सेना ने ही बड़ी वीरता से रोका। बेलजियम में भी उन्होंने बड़ी वीरता दिखायी तथा अन्य स्थानों पर भी उनकी वीरता देखकर सब ने एकस्वर से स्वीकार कर लिया कि लड़ाकू जातियों में से भी भारतीय किसी से कम नहीं है।

इसी सेना की गुज़र के लिये भारत ने अपने ही पास से युद्ध के अन्त तक चार पाँच करोड़ पौण्ड अर्थात् लगभग एक अरब रुपया दिया।

भारत के राजाओं तथा अमीरों की ओर से युद्ध-फंड में दान का ताँता लगा रहा। हवाई जहाज़, मोटर-एम्बुलेन्स, अस्पताली ज़हाज़ आदि भी कई आये। केवल बम्बई प्रान्त ने ही आधे दर्जन युद्ध-सम्बन्धी अस्पताल चलाये थे। इसके अतिरिक्त भारत के कुल तीन लाख से अधिक मनुष्यों ने साम्राज्य की रक्षा के लिये युद्ध किया तथा खून बहाया।

उस समय के फाइनेन्स मेम्बर ऑनरेबल सर विलियम मेयर ने मार्च १९१६ में बजट उपस्थित करते समय कहा था—'भारतीय सेना, साम्राज्य के अन्य सैनिकों के साथ अवतक बड़ी वीरता से भिन्न २ स्थानों पर लड़ रही हैं। इसके अतिरिक्त भारत ने नये सिपाही भरती करके, उन्हें सिखा के, खाद्य सामग्री, कपड़ा, बारूद आदि लेकर घोड़ों को युद्ध में भेजकर, भारतीय जल सेना भेजकर तथा ट्रान्सपोर्ट गाड़ियाँ आदि सुधार कर अनेक प्रकार से युद्ध में वहुत सहायता दी है। युद्ध का व्यय भी १९१४-१५ में १० मिलियन पौण्ड, (लगभग १५ करोड़ रुपया) हुआ है और १९१५-१६ में १८ मिलियन और १९१६-१७ में २१ मिलियन पौण्ड खर्च होने का अन्दाज़ है।'

इन बातों से पता चलता है कि भारत ने युद्ध में कितनी अधिक सहायता दी। अन्य उपनिवेशों से प्राप्त हुई आर्थिक सहायता इस प्रकार थी—

न्यूज़ीलैण्ड	५	मिलियन पौण्ड
दक्षिणी अफ्रिका	१६	,, ,,
आस्ट्रेलिया	२०	,, ,,
कनाडा	३४	,, ,,

ब्रिटिश जल-सेना—इस महायुद्ध में ब्रिटिश जल-सेना ने जो भाग लिया उससे उसकी जलशक्ति का महत्त्व भलीभाँति प्रकट होता है, क्योंकि समुद्र पर उनके अधिकार के विना उनकी विजय अनिश्चित थी। युद्ध आरंभ होते ही एक जहाज़ी वेड़े को स्काटलैण्ड के पास रहना पड़ा जिससे जर्मन सेना का अटलांटिक महासागर में जाने का मार्ग रुक गया और जर्मन लड़ाऊ जहाज़ इधर उधर

न जा सके। फिर भी भूमध्य सागर में दो जर्मन जहाज़ों ने पहुँच कर तुर्की को अपनी ओर मिला लिया। अंग्रेज़-दल के बेड़े ने जर्मनी के व्यापारिक जहाज़ भी रोक दिये तथा उनके जहाज़ भलीभाँति व्यापार करते रहे, जिसके परिणाम-स्वरूप लड़ाई के पिछले दिनों में जर्मनी में खाद्य सामग्री की बहुत कमी पड़ी। अंग्रेज फ्रांस-दल की विजय में जल-सेना का सबसे अधिक भाग था।

जर्मनी की जहाज़ डुबाने की नीति और उसका परिणाम–

नेपोलियन बोनापार्ट की 'कारटीनेरटल सिस्टम' और जर्मनी की जहाज़ डुबाने की नीति में बहुत कुछ समानता है। नेपोलियन ने अपने शत्रु इंगलैण्ड तक पहुँचने में असफल होकर यूरोप में इंग-लैण्ड का व्यापार बन्द करना चाहा था जिसका परिणाम अन्त में उसी के लिये घातक हुआ। इसी भाँति जर्मनी ने भी इङ्गलैण्ड का व्यापार नष्ट करने की इच्छा से उसके जहाज़ डुबाने की नीति चलायी जिसके परिणाम-स्वरूप अमेरिका आदि देश उससे अप्रसन्न हो गये और अन्त में उसकी हार हुई।

इस नीति ने युद्ध के तीसरे वर्ष में बहुत ज़ोर पकड़ा। फरवरी और मार्च में जर्मनी ने शत्रुओं के ८०० जहाज़ डुबाये और यदि यही क्रम जारी रहता तो सितम्बर तक ही ब्रिटेन को युद्ध रोक कर जर्मनी के आगे घुटने टेकने पड़ते। १९१७ के आरंभ में इसी नीति के कारण जर्मनी की विजय की बहुत कुछ संभावना हो गयी थी, परन्तु इसी वर्ष के अंत में एक चतुर इंजीनियर ने एक ऐसा तार लगाया जिससे टकराकर बहुत से जर्मन जहाज़ नष्ट हो गये।

इस प्रकार अंग्रेज़ों के तथा अन्य विपक्षी 'राष्ट्रों' के जहाज़ डुबाने में जर्मनी के एक जहाज़ 'एमडन' ने बड़ी वीरता दिखायी तथा बड़ी ख्याति प्राप्त की। दो महीने में उसने शत्रुओं के २१ जहाज़ पकड़ २ कर डुबाए। फिर वह भारत के पास भी आ गया और मद्रास में उसने मिट्टी के तेल के गुदाम में गोला छोड़ कर आग लगा दी। फिर वह बंगाल की खाड़ी होता हुआ पेनांग पहुँचा और वहाँ एक फ्रांसीसी और एक रूसी जहाज़ को डुबाया। उसकी इस प्रगति से समस्त देश घबरा गये। एमडन को ढूँढने अनेक जहाज़ भेजे गये जिनमें से कई तो उसी के द्वारा डुबा दिये गये और शेष चक्कर खा कर लौट आये। उसकी चाल बड़ी तेज़ थी। अन्त में अंग्रेज़-फ्रांस आदि के दस जहाज़ एक साथ उसके पीछे पड़े और बड़ी कठिनता से उसे घेरने में समर्थ हुए। आस्ट्रेलिया के 'सिडनी' नामक जहाज़ ने अब उसे नष्ट कर दिया और उसके वीर कप्तान तथा अन्य सैनिकों को क़ैद कर लिया।

अभूतपूर्व युद्ध—इतना भारी संग्राम संसार के किसी भी देश में इससे पहले नहीं हुआ। पाँच करोड़ मनुष्य इस युद्ध में लड़े और संसार के सब भागों के योद्धा इसमें सम्मिलित हुए। इस युद्ध में अनेक नव-आविष्कृत अस्त्र शस्त्र तथा गैस आदि से मनुष्य-संहार किया गया। समुद्र के गर्भ तथा आकाश और वायु में भी युद्ध हुआ। इस युद्ध में तीन करोड़ से अधिक मनुष्य घायल हुए और ८० लाख युद्धभूमि में मारे गये, जिनमें ७५ हज़ार इंगलैण्ड के तथा १० दस लाख ब्रिटिश साम्राज्य के मनुष्य थे।

इस युद्ध की दूसरी विशेषता यह थी कि एक ओर केवल

चार देश और दूसरी ओर समस्त संसार के २७ राष्ट्र सम्मिलित थे। इस भाँति यह महायुद्ध सम्पूर्ण हुआ।

वर्सैल की संधि

जर्मनी के हार मान लेने पर सन्धि की पूरी शर्तों का मसौदा तैयार करने के लिये विजयी राष्ट्रों के प्रतिनिधियों की एक सभा १८ जनवरी १९१९ को पेरिस में बैठी। इस सभा में २७ राष्ट्रों के प्रतिनिधि सम्मिलित थे। संयुक्त राज्यों के प्रतिनिधि-मण्डल के प्रधान प्रेसीडेन्ट विल्सन थे और फ्रांस के प्रधान मंत्री मौशिये क्लेमेन्शू इस सभा के सभापति हुए। किन्तु शीघ्र ही सन्धि के कर्ता-धर्ता केवल चार प्रधान राष्ट्रों के प्रतिनिधि रह गये जो 'चतुर चौकड़ी' के नाम से प्रसिद्ध हैं। इनमें इंगलैण्ड के प्रधान मन्त्री श्री लायड जार्ज, अमेरिका के प्रेसीडेन्ट विल्सन, फ्रान्स के क्लेमेन्शू तथा इटली के सिगनर ओरलेन्डो थे।

सन्धि की शर्तें तैयार करने के अतिरिक्त, सब देशों की सीमाओं का निर्णय करना, राष्ट्र-संघ का मसौदा तैयार करना आदि और भी कई कार्य इस सभा को करने थे। अतः प्रत्येक कार्य के लिये एक एक कमेटी नियत कर दी गई जिनकी सहायता के लिये एक हज़ार से अधिक बड़े बड़े राजनीतिज्ञ, इतिहासज्ञ तथा भूगोल-विशारद मौजूद थे।

सब से पहले राष्ट्र-संघ का कार्य समाप्त किया गया और इसकी शर्तें भी सन्धि की और समस्त शर्तों के अन्तर्गत मानी गयीं। २८ जून १९१९ को वर्सैल के प्रसिद्ध शीशमहल में—जिसमें १८७१ में विलियम प्रथम ने अपने को सम्राट् घोषित किया था—

सन्धिपत्र पर एक ओर विजयी-दल के प्रतिनिधियों ने और दूसरी ओर जर्मनी के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर कर दिये।

सीमाओं में इस प्रकार परिवर्तन किया गया

जर्मनी का १८७१ का कार्य अन्याय्य ठहराया गया और अल्सेस-लारेन फिर फ्रान्स को दे दिये गये। जर्मनी की राइन-लैण्ड की कोंयले और लोहे की प्रसिद्ध खानों पर अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार हो गया और युद्ध के समय में जर्मनी ने फ्रान्स की जो खानें नष्ट कर दी थीं, उसके बदले के लिये जर्मनी की बहुत सी खानें फ्रान्स को दे दी गयीं। स्लेस्विग के लोगों को–जिसे जर्मनी ने १७६६ में अपने राज्य में वहाँ के लोगों की इच्छापूर्वक मिला लिया था–अधिकार दिया गया कि यदि वे चाहें तो फिर डेनमार्क से मिल सकते हैं।

आस्ट्रियन साम्राज्य भी बिलकुल नष्ट हो गया। इसमें से छः स्वतंत्र रियासतें बनाई गई–आस्ट्रिया, हंगरी, जुगो-स्लेविया (जिसमें सर्विया, मान्टीनीग्रो तथा अन्य स्लाव देश सम्मिलित किये गये), रूमानिया (जिसमें ट्रान्सिलवानिया भी मिला दिया गया), पोलैण्ड, (जिसे पहले आस्ट्रिया, प्रशा और रूस ने बाँट लिया था), और जेको–स्लोवाकिया (जिसमें बोहेमिया, और मोरेविया को मिला दिया गया) यूनान को एशिया माइ-नर में बहुत सा देश दिया गया और क्षति के अनुसार प्रत्येक देश को जर्मनी और आस्ट्रिया से रुपया दिलवाया गया।

पूर्व में पोसेन, विस्चुला नदी के बाएँ किनारे पर स्थित पश्चिमी प्रशा और सिलेशिया का कुछ भाग पोलैण्ड को दिया

गया और इस भाँति लुटे हुए पोलैण्ड की फिर स्थापना हुई। रूस के दक्षिण में डेनजिग नगर अंतर्राष्ट्रीय अधिकार में रखा गया।

इसी भाँति बेलजियम की भी फिर स्थापना हुई और जर्मनी से उसकी तथा अन्य नव-स्थापित देशों की स्वतंत्रता स्वीकार करायी गयी। अफ्रिका, एशिया आदि में जिन जिन स्थानों पर जर्मनी का अधिकार था वे सब उससे छीन लिये गये और जर्मनी की सेना तथा जलसेना इतनी कम कर दी गयी कि वह फिर कभी युद्ध का नाम भी न ले सके। कुछ कारखानों को छोड़ कर युद्ध का सामान तैयार करने वाली जर्मनी की सब फैक्टरियाँ बंद कर दी गयीं तथा उसके सैनिक स्कूल भी तोड़ दिये गये। जर्मनी से कहा गया कि अब वह कभी विषैली गैस तैयार न करे और हेलिगोलैण्ड द्वीप के सब किले और सब सैनिक स्थान वह स्वयं अपने ही ख़र्चे से तुड़वा दे। ये शर्तें जर्मनी के लिये बड़ी अपमानजनक थीं।

जर्मनी के उपनिवेश सरलतापूर्वक विजयी देशों ने आपस में बाँट लिये। कांगो तथा जर्मन पूर्वी अफ्रिका इंगलैण्ड ने ले लिये। केमरून फ्राँस ने तथा शेष जापान और आस्ट्रेलिया ने ले लिये। तुर्की के राज्य के मिश्र, फिलिस्तीन और इराक इंगलैण्ड ने लिये, शाम फ्रान्स के संरक्षण में कर दिया गया और हेजाज़ स्वतंत्र हो गया।

महायुद्ध का दोषी तथा जिम्मेदार जर्मनी ही ठहराया गया। सभा में प्रस्ताव पास किया गया कि यह सभा अन्तर्राष्ट्रीय संधियों को तोड़ने के कारण होहेनज़ोलर्न वंश के क़ैसर विलियम द्वितीय की खुले तौर से निन्दा करती है। एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन कैसर की अदालती जाँच के लिये भी

बैठा और इसके सामने बयान देने के लिये कैसर को हालैण्ड से बुलाया गया परन्तु डच सरकार ने इसको स्वीकार न किया और क़ैसर को वहाँ पर न जाने दिया। इसी भाँति और भी कई जर्मन अफसरों पर मुक़द्दमा चला। जर्मनी से ज़बरदस्ती युद्ध की ज़िम्मेदारी स्वीकार करायी गयी और विजित देशों से जो मशीनें तथा अन्य अनेक वस्तुएँ ले जाकर जर्मनी ने अपने वे सब उससे वापिस ले ली गयीं तथा विजयी देशों की क्षति-पूर्ति के लिये एक ऐसी रक़म देना जर्मनी से स्वीकार कराया गया जिसे विजयी राष्ट्रों की सभा न्यायपूर्वक और जर्मनी की आर्थिक दशा देखकर निर्धारित करे। यह रक़म एक अरब पौण्ड ठहरायी गयी।

इस भाँति इस कठिन संधि से समस्त संसार को प्रकट हो गया कि विजयी-दल का उद्देश जर्मनी को पूर्णतया कुचल देना है जिससे वह भविष्य में कभी भी सिर उठाने का साहस न कर सके। यह एक ज़बरदस्ती की संधि थी और निःसहाय जर्मनी को उस पर हस्ताक्षर करने के अतिरिक्ति और कोई चारा न था। यद्यपि ये शर्तें बहुत कठिन थीं, फिर भी इनके अनुसार बहुत कुछ कार्य होने लगा और १९२० के आरम्भ तक ही बहुत सी शर्तें पूरी भी हो गयीं। जर्मनी, फ्रान्स, ब्रिटेन, इटली, जापान, बेलजियम, ब्राजिल, पीरू, पोलैण्ड आदि अनेक देशों ने इन शर्तों को स्वीकार करके उनके अनुसार आचरण करना आरम्भ कर दिया परन्तु अमेरिका की सीनेट ने इस समझौते को अस्वीकार कर दिया और उसे अन्याय्य और अनुचित बताकर कुछ दिनों में प्रेसीडेण्ट विलसन को भी सभापतित्व से हटा दिया, क्योंकि

वे ही अमेरिका को यूरोप ले गये थे और जर्मनी से दूसरी सन्धि की।

जर्मनी युद्ध का जिम्मेदार—विजयी देशों की सभा ने एकमत होकर जर्मनी को युद्ध के लिये जिम्मेदार बताया। यद्यपि युद्ध का आरम्भ आस्ट्रिया और सर्विया में हुआ था और रूस जर्मनी से भी पहले उसमें सम्मिलित हुआ था तथा फ्रांस और इंगलैण्ड ने भी जर्मनी के युद्ध में सम्मिलित होने के पहले हस्तक्षेप किया था, फिर भी युद्ध का सब दोष जर्मनी के सिर मढ़ा गया। इसी आधार पर सब देशों की क्षतिपूर्ति की रकम भी जर्मनी से माँगी गयी और वह भी इतनी बड़ी जो जर्मनी की शक्ति से सर्वथा बाहर थी। इस भाँति इस स्वार्थ-पूर्ण संधि से यह प्रत्यक्ष था कि यह स्थायी नहीं हो सकती, युद्ध के बाद की घटनाएँ इसका प्रमाण हैं।

न्यूयार्क के प्रसिद्ध इतिहासकार प्रोफेसर हैरी ए० बार्न्स ने शोध के उपरान्त एक विस्तृत इतिहास लिखा है। उनके मतानुसार आधुनिक काल के युद्धों का प्रधान कारण उद्योग व्यवसाय का प्राबल्य है, जिस के लिये जर्मनी, फ्रांस या इंगलैण्ड से अधिक महासमर का अपराधी नहीं है। युद्धों का दूसरा कारण साम्राज्य–विस्तार की लालसा है। जर्मनी ने भी यदि नये देशों पर अधिकार करने और अपना प्रभाव बढ़ाने की चेष्टा की तो वह इंगलैण्ड, फ्रांस और रूस से अधिक अपराधी नहीं है। युद्ध का तीसरा कारण उनके मतानुसार राष्ट्रों में शस्त्रास्त्र तथा सैन्य संग्रह में अग्रगण्य होने की प्रतिद्वन्दिता थी। इसमें भी जर्मनी अधिक दोषी नहा है। इंगलैण्ड अपने समुद्री बेड़े की

वृद्धि जहाँतक हो सके विना किसी के पूछे करना चाहता है पर वह ज्यादा सेना नहीं रख सकता इसका कारण उसकी परिस्थिति है न कि शान्ति-प्रियता। फ्रांस ने तो संसार को ही सब नवयुवकों को सैनिक शिक्षा देने का स्वयं उदाहरण बनकर शिक्षा दी है। यदि जर्मनी ने भी इन लोगों को देख कर अपने व्यापार की वृद्धि के लिहाज़ से समुद्री बेड़ा बनाने की चेष्टा की थी तो उसने भी वही किया जो अमेरिका, इंगलैण्ड प्रभृति देशों ने किया। सच पूछा जाय तो १९१४ में सैन्य और शस्त्र-शक्ति में रूस और फ्रांस जर्मनी से बहुत आगे बढ़े थे। फ्रांस और रूस के अधिकारियों में जो गुप्त पत्र-व्यवहार हुआ था वाद को उसके प्रकट होने पर पता चला कि वे कुछ ही देर में जर्मनी को मक्खी की तरह मसल सकते थे।

रूस और फ्रांस की गुप्त मित्रता और कूटनीति भी महासमर के कारण थे। अब जो पत्र प्रकाश में आये हैं वे इसके प्रमाण हैं कि रूसी धन से फ्रांस के पत्र-सम्पादकों को घूस देकर वालकन में उपद्रव मचाया गया था और इंगलैण्ड की सहायता से केन्द्रवर्ती शक्तियों को चूर्ण करने की ठानी गयी।

जर्मनी राष्ट्रवादी, साम्राज्यवादी, सैन्यवादी तथा गुप्त कूटनीतिज्ञ था परन्तु वह उस समय के फ्रांस के समान राष्ट्रवादी, ब्रिटेन, फ्रांस और रूस के समान साम्राज्यवादी तथा फ्रांस और रूस के समान सैन्यवादी या भयानक कूटनीति में व्यस्त न था। समुद्री सेना में ब्रिटेन की तरह जुटा हुआ न था।

महायुद्ध के तात्कालिक कारण के सम्बन्ध में श्री वार्न्स लिखते हैं कि रूस और सर्विया की सरकारें वालकन में स्लावों

के लिये आन्दोलन मचा रही थी और आस्ट्रिया के युवराज और उनकी पत्नी की हत्या की बात सर्विया को मालूम थी और उसमें उसका हाथ भी था। जब इसके कारण महायुद्ध की आशंका हुई तो जर्मनी ने बीच में पड़ कर शान्ति करने की चेष्टा की। पर फ्रांस की सहायता की आशा से घमंड में चूर रूस ने सर्विया की सहायता के लिये अपनी समस्त सेना को तैयार होने की घोषणा कर दी जिसका अर्थ फ्रांस-रूस की गुप्त सन्धि के अनुसार युद्ध-घोषणा करना था। ब्रिटिश सरकार इन गुप्त सन्धियों में शामिल तो थी पर उसे ठीक २ मालूम नहीं हुआ कि इन दोनों में क्या हो रहा है। उसे बिना विचारे इधर कूदना पड़ा। अतः युद्ध की सारी जिम्मेदारी आस्ट्रिया, फ्रांस, सर्विया और रूस पर है, जर्मनी इसमें निर्दोष है। (विश्व-मित्र)

महायुद्ध के परिणाम—युद्ध का सब से बड़ा परिणाम यह हुआ कि सब लोग युद्ध की हानियों को समझ गये। इस महायुद्ध के कारण सब लोग युद्ध से घबरा गये और कहने लगे कि बस यही अन्तिम युद्ध होना चाहिये। इस युद्ध को युद्ध के ही प्रति युद्ध समझना चाहिये।

दूसरे, इस युद्ध के कारण प्रजासत्ता और राष्ट्रीयता के विचारों को बहुत उत्तेजना मिली। निरंकुश तथा सैनिक शासन अप्रिय होने लगे। प्रजासत्ता की श्रेष्ठता स्वीकार कर ली गयी और कुछ ही वर्षों में बारह नये प्रजातंत्र राज्य स्थापित हुए, जिनमें जर्मनी, आस्ट्रिया, यूनान, तुर्की आदि प्रधान हैं।

तीसरे, राष्ट्रों की एक दूसरे पर निर्भरता भी बढ़ने लगी। ब्रिटिश साम्राज्य को इसी आधार पर भली भाँति संगठित करने

का विचार हो रहा है जिससे उसके भिन्न २ अंग एक दूसरे के और पास आ जाँय और आवश्यकता के समय सब मिल सकें।

भिन्न २ राष्ट्रों में मित्रता स्थापित रखने और उनके झगड़ों को निबटाने के लिये राष्ट्र-संघ की सृष्टि हुई जिसमें संसार के प्रायः सभी प्रधान राष्ट्र सम्मिलित हैं। यद्यपि यह पूर्णतया सफल नहीं हुई है फिर भी लोगों को इससे भविष्य में शान्ति रखने की वहुत कुछ आशा है।

उन्नीसवाँ अध्याय

युद्ध के वाद के दस वर्ष

युद्ध को समाप्त हुए लगभग दस वर्ष बीत चुके किन्तु इन वर्षों में कोई अधिक महत्वपूर्ण घटना यूरोप में नहीं हुई। महायुद्ध के कारण लोग ऐसे घबड़ा गये थे कि उसके बाद चारों ओर से 'अब कभी नहीं' 'यह युद्ध ही युद्धों को समाप्त करने वाला हो', 'यही अंतिम युद्ध हो' आदि वाक्यों की पुकार सुनाई देने लगी। अव तक की घटनाओं से प्रकट होता है कि वास्तव में लोग युद्ध से थोड़े वहुत डर गये हैं क्योंकि अव तक यूरोप में कई बार युद्ध के बादल मँडराते दिखाई दिये किंतु वे थोड़े ही दिनों में दूर हो गये। वालकन रियासतों के कुछ छोटे मोटे झगड़ों को छोड़कर इन वर्षों में यूरोप में कोई युद्ध नहीं हुआ यद्यपि यूरोप से वाहर मोरक्को में युद्ध हुआ तथा अव चीन में थोड़ा वहुत चल रहा है।

शारीरिक संग्राम इस समय प्रायः रुक गया है किन्तु युद्ध

के वाद से ही आर्थिक युद्ध चल रहा है। महायुद्ध में यूरोप के प्रायः सभी देश ऋणी हो गये और यह ऋण अधिकांश अमेरिका से लिया गया। महायुद्ध का असीम व्यय देख कर ऋण का अन्दाजा लगाया जा सकता है। अकेले इंगलैण्ड को ही इस युद्ध में ९ अरब ५९ करोड़ पौण्ड (अब एक पौण्ड १३ रु० ५ आ० ४ पा० के बराबर है) खर्च करने पड़े जिनमें १ अरब ८२ करोड़ पौण्ड प्रत्यक्ष कर से, ९१ करोड़ अप्रत्यक्ष कर से, ५ अरब ५० करोड़ इंगलैण्ड से तथा १ अरब ३६ करोड़ पौण्ड बाहर से ऋण लिये गये। इसी भाँति अन्य देशों के व्यय का अनुमान किया जा सकता है। इसके कारण सब देश अमेरिका के ऋणी हो गये। फ्रान्स को मय सूद के ८७ करोड़ पौण्ड, इटली को ४४ करोड़ पौण्ड और अन्य देशों को १ अरब २४ करोड़ पौण्ड देना है। इसके अतिरिक्त इटली को इंगलैण्ड का भी ५७ करोड़ पौण्ड देना है जिसमें से जनवरी १९२६ के समझौते के अनुसार उसने प्रतिवर्ष ४० लाख पौण्ड देना स्वीकार कर लिया है।

महायुद्ध के पश्चात् अभी तक यूरोप में कोई ऐसी घटना नहीं हुई जिससे समस्त यूरोप का सम्बन्ध हो। अतः यहाँ पर इन दस वर्षों का प्रत्येक देश का संक्षिप्त इतिहास दे देना पर्याप्त होगा।

फ्रांस—महायुद्ध में फ्रान्स का ख़ज़ाना खाली हो गया था। अतः उसे सबसे पहले जर्मनी से क्षति-पूर्ति की रक़म वसूल करने की चिन्ता थी। वह चाहता था कि जर्मनी की आर्थिक दशा चाहे कैसी भी हो किंतु फ्रांस को क्षति-पूर्ति की रक़म वादे पर अवश्य मिल जानी चाहिये। जर्मनी ने समय पर किश्त चुका दी।

१९२१ में जर्मनी की कुछ खानें फ्रान्स के अधिकार में कर दी गयी थीं। अतः उसे अपने यहाँ के धन्धे चलाने के लिये बाहर से कोयला मँगाना पड़ा जिससे उसे बड़ी आर्थिक हानि उठानी पड़ी।

कुछ ही दिनों में जर्मनी समय पर क्षति-पूर्ति की रक़म की किश्तें अदा करने में असमर्थ हो गया क्योंकि उसके सिक्के का मूल्य बहुत घट गया था और देश में आर्थिक संकट उपस्थित हो गया था। इस पर फ्रांस के प्रधान मंत्री श्री पाइंकारे ने प्रस्ताव किया कि जर्मनी से रुपया वसूल करने की गारण्टी के लिये उसकी रूर प्रान्त की प्रसिद्ध कोयले की खानों पर भी अधिकार कर लेना चाहिये। जर्मनी की असमर्थता देख कर इंगलैण्ड आदि ने क्षति-पूर्ति की रक़म में कुछ कमी कर दी किन्तु नवम्बर १९२२ में जर्मनी ने कहा कि हम एक अनिश्चित समय तक रुपया देने में असमर्थ हैं क्योंकि हमारी दशा बहुत खराब है। इस पर फ्रांस ने किसी की न सुन कर रूर में अपनी सेना को चलने की आज्ञा दे दी। जर्मनी ने गान्धी जी की नीति के अनुसार सत्याग्रह किया और चुपचाप फ्रांस के सब अत्याचारों को सह लिया। १९२३ में जर्मनी के रूर प्रदेश में ८७००० फ्रांसीसी और ७००० बेलजियम की सेना पहुँच गयी। अधिकृत राइनलैण्ड में भी भिन्न २ स्थानों पर ९६,००० फ्रान्स की और १७००० बेल-जियम की सेना थी। जुलाई १९२३ तक ही वहाँ ९३ जर्मनों की हत्या की गयी तथा ९ को फौजी अदालत से मृत्युदण्ड दिया गया। हज़ारों को देश-निकाला हुआ। रेल, डाक आदि प्रत्येक विभाग तथा प्रशा, बवेरिया, बेडन, एसेन आदि प्रत्येक प्रान्त से हज़ारों को दण्डित तथा देश-निर्वासित किया गया।

१९२४ में पाइंकारे का पतन हुआ और उनके स्थान पर हेरियट नियुक्त हुए। अतः अमेरिका को हस्तक्षेप करने का अधिकार मिला और जर्मनी की फिर जाँच करने के लिये डावेस के सभापतित्त्व में एक कमेटी बैठी। उसने जर्मनी की आर्थिक दशा देखकर किश्तों का समय तथा उनकी रक़म नियत कर दी और तब से जर्मनी इसके अनुसार आचरण करता आ रहा है।

इसी समय फ्रान्स ने मोरक्को, ट्यूनिस तथा सीरिया के झगड़ों में हस्तक्षेप करना आरंभ कर दिया। मोरक्को का वर्णन हम इसी अध्याय में आगे पढ़ेंगे।

इसी वर्ष लासेन स्थान पर एक संधि हुई जिसमें फ्रांस जर्मनी और इंगलैण्ड में यह समझौता हुआ कि यदि कोई राष्ट्र इन तीन में से किसी पर आक्रमण करे तो सब उसकी सहायता करेंगे और आक्रमण करने वाले के विरुद्ध लड़ेंगे।

फ्रांस की आर्थिक दशा युद्ध के समय से ही बहुत खराब हो गयी थी, फिर उसने मोरको की लड़ाई में बहुत सा रुपया व्यय किया। इससे वहाँ आर्थिक संकट उपस्थित हो गया। पाइंकारे ने कर बढ़ाये। इसी कारण चुनने वालों ने क्रुद्ध होकर उन्हें हटा दिया। उनके बाद हेरियट यद्यपि बाहरी नीति में सफल रहे किन्तु घर की दशा न सम्हाल सके। एक के बाद एक मंत्रिमण्डल का पतन होता गया। हेरियट, ब्राइन्ड आदि कई प्रधान मंत्री हुए किंतु आर्थिक दशा न सुधरी। अंत में अगस्त १९२६ में पाइंकारे ही फिर प्रधान मंत्री बनाये गये और उन्होंने दशा ठीक कर ली। इसके बाद फ्रान्स की कोई नवीन घटना नहीं है। वहाँ साम्राज्यवादी तथा प्रजासत्तावादियों में खूब संघर्षण होता रहता है।

जर्मनी—वार्सेल सन्धि से विस्मार्क की बनाई हुई इमारत खँडहर हो गयी, साम्राज्य का लोप हो गया। कील के मल्लाहों के विद्रोह तथा क़ैसर के हालैण्ड चले जाने के बाद हरएबर्ट नाम के साम्यवादी दल के नेता ने बर्लिन पर अपना अधिकार कर लिया। साम्राज्य के प्रधान स्तम्भ के हट जाने से शेष राजा शीघ्र ही हटा दिये गये और जर्मनी में सर्वत्र प्रजातंत्र हो गया।

जर्मनी में साम्यवादियों तथा प्रजासत्तावादियों के प्रचार का वर्णन हम पहले पढ़ चुके हैं। जर्मनी की रीस्टाग में भी उन्हीं की संख्या बहुत हो गयी थी। वे बहुत दिनों से यह प्रयत्न कर रहे थे कि प्रधान मंत्री अथवा चांसलर रीस्टाग के प्रति उत्तरदाता रहे। १९१२ के चुनाव में ही रीस्टाग में साम्यवादियों की संख्या ४३ से बढ़कर ११० हो गयी थी। इससे यह प्रकट था कि वहाँ निरंकुश शासन की सर्वप्रियता घट रही है। जब जर्मनी युद्ध में लग गया तो सब दलों ने भेदभाव छोड़कर सरकार का साथ दिया, किंतु युद्ध की प्रगति के साथ साथ सब दलों की देशभक्तिपूर्ण एकता निर्बल होती गयी तथा रीस्टाग ने फिर प्रजासत्ता की वृद्धि के लिये पुकार मचाना आरंभ कर दिया। अतः युद्ध के बाद १९१९ में यहाँ जो शासन-विधान बना वह संसार के सब देशों से अधिक प्रजासत्तात्मक है। पार्लमेंट में केवल एक ही भाग है जिसके प्रति मंत्रिमण्डल अपनी नीति के लिये उत्तरदायी है, प्रेसीडेंट का चुनाव जनता की सर्वसम्मति से होता है।

किंतु प्रजासत्तावादियों के साथ ही वहाँ पर राजा का पक्षपाती भी एक दल है तथा कभी २ यह भी प्रबल हो जाता है। इसीके

प्रभाव के कारण १९२५ में जनरल हिंडनबर्ग सभापति चुन लिये गये जिससे कुछ दिनों के लिये समस्त यूरोप में हलचल मच गयी।

डावेस की स्कीम के अनुसार यह निर्णय किया गया था कि जर्मनी प्रतिवर्ष १७½ करोड़ पौण्ड क्षतिपूर्ति के रूप में दिया करे और इस प्रकार पाँच वर्ष में समस्त रक़म चुका दे। जर्मनी ने यथाशक्ति इसे पूरा करने का प्रयत्न किया है। फ्रांस के अत्याचारों का वर्णन हम पढ़ ही चुके हैं।

१९२६ के आरम्भ से ही यूरोप में एक नया प्रश्न उठा। जर्मनी अब तक राष्ट्र-संघ में सम्मिलित नहीं किया गया था। युद्ध के बाद से फ्रान्स की वृद्धि रोकने के लिये इंगलैण्ड जर्मनी का कुछ पक्षपात कर देता है इससे फ्रांस और इंगलैण्ड के बीच में भी कुछ मनमुटाव पड़ गया है। जर्मनी को अपनी ओर मिला के अपनी शक्ति बढ़ाने की इच्छा से इङ्गलैण्ड ने प्रस्ताव किया कि जर्मनी को भी राष्ट्र-संघ में सम्मिलित कर लिया जाय तथा उसके प्रतिनिधियों को संघ की स्थायी कमेटी में भी स्थान मिले। यह प्रस्ताव इङ्गलैण्ड ने जर्मनी की संघ में सम्मिलित होने की इच्छा देखकर ही किया था जिससे जर्मनी प्रसन्न हो जाय। फ्रांस ने अपनी स्थिति निर्बल होती देखकर प्रस्ताव किया कि अच्छा हो पोलैण्ड, मेक्सिको आदि भी जो फ्रांस के मित्र है, संघ में सम्मिलित कर लिये जाँय। इस विषय पर बड़ा झगड़ा हुआ। जेनेवा में खूब गरम वाद-विवाद हुआ। इङ्गलैण्ड के विदेश-सचिव श्री आस्टिन चेम्बरलेन भी वहाँ पहुँचे थे परन्तु निराश होकर लौट आये। कुछ दिनों तक बड़ी निराशा रही किन्तु सितम्बर में जर्मनी राष्ट्र-संघ में सम्मिलित कर लिया गया।

जर्मनी ज्यों २ फ्रांस का ऋण चुकाता गया फ्रांस की सेना जर्मनी से हटती गयी। मार्च १९२६ में जर्मनों ने बड़े उत्साह से कोलोन खाली होने का उत्सव मनाया। अब जर्मनी फ्रांस की पूरी क्षतिपूर्ति कर चुका है। अतः फ्रांस की समस्त सेना जर्मनी से हटा ली गयी है। इस समय जर्मनी में शान्ति है। उसने अन्य देशों से संधियाँ करके फिर अपना व्यापार बढ़ाना आरम्भ कर दिया है।

इटली—अंग्रेज़ और फ्रांस दल ने युद्ध के पहले इटली को बड़ी २ रिश्वतें दी थीं। लन्दन की गुप्त संधि के अनुसार इटली को उसके पूर्व का डालमेशिया का किनारा तथा एशिया माइनर के कुछ बन्दरगाह दे दिये गये। इसी के कारण इटली युद्ध में झट उधर मिल गया।

इटली के सम्मुख भी वही प्रश्न उपस्थित है जो कुछ दिन पहले इंगलैण्ड तथा जर्मनी के सामने था। उसकी जन-संख्या प्रतिवर्ष ४ लाख बढ़ रही है जिनके निर्वाह तथा निवास के लिये बाहर कहीं स्थान चाहिये। इसके अतिरिक्त उसके उद्योग धन्धों की वृद्धि के लिये बाहरी देशों से कच्चा माल आना आवश्यक है। इन्हीं कारणों से इटली अपना विस्तार बढ़ाने को व्याकुल हो रहा है। वर्सेल की सन्धि में उसने ट्रेण्टिनो, ट्रीस्ट, टायरोल आदि कई स्थान ले लिये थे फिर भी वह और स्थान चाहता है।

इटली की सरकार निर्बल थी तथा वहाँ की पार्लमेण्ट में सदा षड्यंत्र चला करते थे। अतः जनता ऐसे राज्य से ऊब गयी थी। इसी के कारण वहाँ एक नये सुदृढ़ दल का जन्म हुआ

जिसका नाम फासिस्टी दल है। यह दल अपने नेता साहसी सिगनर मुसोलिनी के साथ रोम पर अधिकार करने चला किंतु राजा ने उनका स्वागत करके अपना सिंहासन वचा लिया, यद्यपि उसे अपनी स्वतंत्रता खोनी पड़ी।

उस समय से इटली के प्रधान कर्ताधर्ता सिगनर मुसोलिनी हैं तथा अधिकांश जनता भी उनकी समर्थक है। मुसोलिनी ने वहाँ पर अपना शासन स्थापित किया। पहले उन्होंने अपनी कैबिनेट में अन्य लोगों को भी सम्मिलित किया, किन्तु १९२४ में उनका साम्यवादियों से झगड़ा हो गया। तव से मुसोलिनी ने केवल अपने ही दल के लोगों को रखा। उस समय से मुसोलिनी का इटली में एकतंत्र शासन है। उनका विरोध करके कोई रक्षित नहीं रह सकता। समस्त देश पर उन्होंने अपना आतंक जमा लिया है, अपने विरोधियों को उन्होंने कड़े दण्ड दिये तथा वहुतों को देश से वाहर निकाल दिया। उनकी नीति पूर्ण निरंकुश है। पत्र आदि उनके विरुद्ध एक वात भी नहीं कह सकते। विदेशी नीति में वे भी इटली का विस्तार वढ़ाना चाहते हैं। वे स्पष्ट शब्दों में कह भी चुके हैं कि मैं इटली को फिर उतना ही वड़ा साम्राज्य वनाना चाहता हूँ कि जितना जूलियस सीज़र के समय में था। इसी उद्देश से कुछ दिन पहले उन्होंने ट्रिपोली की यात्रा की थी तथा वे टाइन और एवीसीनिया को भी लेना चाहते हैं।

मुसोलिनी के विरोधी खुले ढंग से अपने दलों का प्रचार नहीं कर सकते। अतः वहाँ अनेक षड़यंत्र हुआ करते हैं। अव तक लगभग आठ दस वार उनकी हत्या के प्रयत्न किये जा चुके

हैं, उनकी मोटर में गोलियाँ छोड़ी गयीं, बम फेंके गये परन्तु वे अभी तक बचे हुए हैं। गत वर्ष सितम्बर में भी उनकी मोटर पर बम फेंका गया था किन्तु वे बच गये। इसके बाद उन्होंने शासन को और कड़ा कर दिया, और गोली चलाने वालों को बड़े कड़े दण्ड दिये। अभी हाल में ही एक को तीस वर्ष की तथा दूसरे को पच्चीस वर्ष की क़ैद हुई है। इस भाँति इटली में इस समय एक मनुष्य का राज्य है।

रूस—लेनिन ने शक्ति प्राप्त करते ही मेनशेविक दल के नेता करन्स्की को अलग किया। लेनिन बोलशेवी दल का था जो देश में तुरंत ही क्रान्ति चाहता था; परन्तु दूसरी पार्टी—मेनशेविक कला कौशल की उन्नति करते हुए देश को समुन्नत करता था। लेनिन ने फिर कुछ दम लेने के लिये जर्मनी की कड़ी शर्तों पर हस्ताक्षर कर दिये। फिर उसने अपने देशी विरोधियों को दबाया। ट्रोज़की के अधीन एक लाल सेना तैयार हुई जिसने देश में सर्वत्र विद्रोहों को शांत कर दिया। इस भाँति १९२० तक बोलशेविक रूस में सुरक्षित हो गये।

फिर लेनिन ने मज़दूरों का पक्ष लेकर उनकी कमाई की लूट का अन्त करने के लिये सब की वैयक्तिक जायदाद ज़ब्त कर ली तथा सब उद्योग धंधों को भी सरकारी अथवा राष्ट्रीय बना दिया। इससे बड़े बखेड़े खड़े हुए। किसानों ने दूसरी बात का विरोध किया और नगरों को अनाज भेजना बंद कर दिया। जब सेना गाँवों में पहुँची तो उन्होंने अपने अनाज में आग लगा दी और फिर अनाज बोया भी नहीं। इससे रूस में रोटियों का भयंकर अकाल पड़ गया और बाहर बोलशेवी शासन की निंदा होने

लगी। १९२४ में लेनिन की मृत्यु से वोलशेवियों को वड़ा धक्का पहुँचा। उसके वाद एक त्रिगुट रूस में प्रधान हुआ जिसका नेता स्टालिन था जो एक ग़रीब किसान के घर में उत्पन्न हुआ था। यह आश्चर्य की वात है कि लेनिन की मृत्यु पर उनके साथी और दाहिने हाथ ट्रोज़की नेता न हो सके।

अव रूस छोटे छोटे राष्ट्रीय प्रजातंत्रों में वँटा हुआ है जो एक दूसरे से सम्वद्ध तथा संगठित हैं। कार्यकारिणी की शक्ति राजधानी लेनिनग्राड (पुराना सेन्ट पीटर्सवर्ग अथवा पेट्रोग्राड) में स्थित सोवियट के हाथ में है।

इसके साथ २ ही रूस में एक कम्यूनिस्ट दल भी है जिसके भी केन्द्र प्रत्येक प्रान्त में हैं। इनके अतिरिक्त वहाँ एक तीसरा दल भी है जिसके सिद्धान्त अलग हैं किन्तु उसमें वहुत से मनुष्य ऊपर के दोनों दलों के भी सम्मिलत हैं। यह तीसरा दल 'थर्ड इंटर नेशनल' कहलाता है तथा इसका प्रधान उद्देश्य संसार भर में क्रांति करना है। अनेक देशों में इस दल के दूत अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहे हैं। शासकों को भारत में भी इनका प्रभाव दिखायी देता है। वर्तमान चीन संग्राम का कारण भी ये ही वताये जाते हैं।

आस्ट्रिया तथा उसके खंड—हम देख चुके हैं कि आस्ट्रिया में भिन्न २ जाति तथा धर्म वालों का विचित्र सम्मिश्रण था। किन्तु साम्राज्य की प्रधान जातियों—आस्ट्रियनों तथा हँगेरियनों (मागयारों) ने स्लाव जातियों के प्रति समानता का व्यवहार नहीं किया। इसी कारण इस साम्राज्य का पतन हुआ।

महायुद्ध के वाद सितम्वर १९१९ में आस्ट्रिया के राजा

को गद्दी से उतार दिया गया और वहां प्रजातंत्र की स्थापना हुई। यूरोप को एक भाषा, जाति तथा राष्ट्रीयतावाले भागों में बाँटने के सिद्धान्त पर आस्ट्रियन साम्राज्य के खण्ड खण्ड कर डाले गये तथा आस्ट्रिया देश बिलकुल निर्बल और छोटा सा रह गया। अब उसमें केवल ६० लाख मनुष्य हैं। वह समुद्र से दूर हो गया है तथा जर्मनी आदि से स्वतंत्र हैं।

इसी भाँति हंगरी का विस्तृत उत्तरी ज़िला जेको-स्लोवेकिया को दे दिया गया, दक्षिणी एक ज़िला जूगो-स्लेविया को तथा पूर्व में एक ज़िला रोमानिया को। अब हंगरी में भी प्रजातंत्र है। इसका क्षेत्रफल ४५००० वर्गमील तथा जन-संख्या ८० लाख है।

आस्ट्रिया-हंगरी में से एक नयी रियासत सन्धि के अनुसार बन गयी। यह जेको-स्लोवेकिया कहलाती है तथा इसमें बोहेमिया, मोरेविया आदि सम्मिलित हैं। इसका क्षेत्रफल ६०,००० वर्गमील तथा जन-संख्या १ करोड़ १० लाख है। हाल ही में इसने उद्योग धन्धों में बहुत उन्नति कर ली है। यहाँ के बने हुए कमीज़ के बटन सर्वत्र फैल गये हैं तथा मज़बूत होते हैं।

युगोस्लेविया में सर्विया, मान्टीनीग्रो, बोसनिया, हर्ज़गोविना, स्टीरिया, डालमेशिया आदि सम्मिलित हैं। यहाँ की जन-संख्या १ करोड़ तथा क्षेत्रफल ७५००० वर्गमील है।

पोलैण्ड युद्ध के बाद एक महत्वपूर्ण राष्ट्र बन गया है। इसका क्षेत्रफल १,२०,००० वर्गमील तथा जन-संख्या दो करोड़ से अधिक है। पोलैण्ड को लूटने वाले तीनों देशों में आस्ट्रिया ने उनके साथ अच्छा बर्ताव किया। अतः युद्ध में पोलों ने आस्ट्रिया

की सहायता की। स्वतंत्र होते ही उसका रूस से झगड़ा हो गया जो १९२० में तय हो गया। इस समय वहाँ पर पिलसुदस्की प्रधान हैं।

बाल्कन प्रायद्वीप—यहाँ पर अनेक रियासतें पास पास होने के कारण सदा कुछ न कुछ झगड़े हुआ करते हैं। मेसेडोनिया के लिये बलगेरिया और यूनान में सदा झगड़ा होता रहा है। बलगेरिया ने सब मेसेडोनिया पाने की आशा से ही १९१४ में आस्ट्रिया आदि का साथ दिया। किन्तु १९१८ में उसकी सेना बुरी तरह हार गयी और उसे युद्ध से अलग होकर सन्धि की प्रार्थना करनी पड़ी। राजा ने अपने पुत्र बोरिस के लिये राजगद्दी त्याग दी और किसान-दल का प्राधान्य हुआ। किसानों के नेताओं ने शक्ति पाकर अत्याचार करना आरम्भ किया और मध्य श्रेणी के लोगों के साथ अच्छा बर्ताव न किया। इससे १९२३ में सेना में एक षड्यंत्र रचा गया और किसान-दल को हराकर हटा दिया गया। अब प्रोफ़ेसर सानकोफ़ प्रधान मंत्री हुए जिनके समय में निरन्तर षड्यंत्र चलते रहे। अन्त में १९२५ में षड्यंत्रकारियों ने सोफ़िया के एक गिरजे में सुरंग लगाकर कैबिनेट के आधे मेम्बरों को उड़ा दिया।

१९२५ में इसका यूनान से भी कुछ झगड़ा चला परन्तु राष्ट्रसंघ के बीच में पड़ जाने से वह शीघ्र ही शांत हो गया।

यूनान—युद्ध के बाद यूनान में अनेक घटनाएँ हुईं जिनमें कई बार उसकी विजय हुई तथा कई बार पराजय। १९१५ में यूनान के राजा कान्स्टेन्टाइन ने युद्ध में अंगरेज़ों का साथ देने से इनकार कर दिया था। अतः वहाँ के एक अंग्रेज़-फ्रांस पक्षपाती दल ने

जिसके नेता वेनिज़ुला थे १९१६ में सेलोनिका स्थान पर एक प्रतिद्वन्द्वी सरकार की स्थापना कर दी। ये लोग तुर्की से कुस्तुन्तुनिया छीनना चाहते थे तथा थ्रेस और एशिया माइनर में यूनानी साम्राज्य स्थापित करना चाहते थे। वेनिजला के प्रयत्न से ही ढाई लाख यूनानी सेना अंगरेज़ों की ओर सम्मिलित हुई जिससे उनका दल दक्षिण यूरोप में बहुत बलवान हो गया।

युद्ध समाप्त होने पर वेनिज़ला की जादूगरी ने यूनान को बहुत कुछ दिलवाया। एशिया माइनर और स्मर्ना पर यूनान का अधिकार हो गया और इस भाँति यूनान का स्वप्न अधिकांश में पूरा हो गया।

कान्स्टेन्टाइन के द्वितीय पुत्र अलेकजेंडर की—जो यूनान के राजा हो गये थे—१९२० में एक पालतू बन्दर के काटने से मृत्यु हो गयी और राजगद्दी का प्रश्न उपस्थित हुआ। वेनिजला ने देश से अपील की कि मुझे ही गद्दी पर बिठा दो। किन्तु उनके विरोधियों ने वेनिज़ुला को यूनान में खूब बदनाम तथा अप्रिय कर दिया था। अतः नवम्बर १९२० के चुनाव में वे हार गये और यूनान न लौटने की कसम खाकर यूरोप में चले गये। अंगरेज़ आदि अनेक देशों की सहानुभूति उनकी ओर थी। राजा कान्स्टेन्टाइन यूनान में वापस आये और उनका खूब स्वागत किया, परंतु इङ्गलैण्ड और फ्रांस ने उन्हें राजा न माना।

एशिया माइनर तथा स्मर्ना छिन जाने के कारण तुर्की यूनान से क्रुद्ध रहा था। इटली सदा से उससे अप्रसन्न था तथा अब फ्रांस भी उसके विरुद्ध हो गया था। इसी बीच में तुर्की सरकार की निर्बलता देखकर वहाँ एक राष्ट्रीय दल तैयार हो गया था।

इसके नेता मुस्तफ़ा कमाल पाशा थे और इन्होंने अंगोरा को अपनी राजधानी बनाया और तुर्क-यूनान संधि को न माना।

फ्रांस ने भी शाम में अपनी स्थिति सुरक्षित रखने के लिये १९२१ में तुर्की से एक संधि की। अब फ्रांस की सहायता से तुर्की ने एशिया माइनर पर चढ़ाई कर दी। अंगरेज़ों ने यूनान को थोड़ी बहुत सहायता दी जिससे वह १९२२ तक लड़ता रहा। यूनानियों ने यह भारी भूल की कि कुस्तुन्तुनिया पर अधिकार करने की इच्छा से अपनी सेना का कुछ भाग थ्रेस में भेज दिया। अगस्त में तुर्की ने आक्रमण किया और थके हुए यूनानी समुद्र तक खदेड़ दिये गये। यूनानी हार गये और उनके हज़ारों मनुष्य मारे गये। तुर्कों ने स्मर्ना पर अधिकार कर लिया और तुर्की मुहल्लों को छोड़ कर शेष नगर अग्नि से भस्म कर दिया।

अब यूरोपीय देशों के बीच में पड़ने के कारण लासेन स्थान में सन्धि के लिये सभा बैठी। तुर्क चाहते थे कि यूनानी पहले एशिया माइनर पर अधिकार करने का स्वप्न छोड़ दें तथा थ्रेस और कई स्थान भी तुर्कों को मिलें। बहुत दिनों तक वाद-विवाद चलता रहा परंतु तुर्क अपनी बात पर अड़ गये और किसी भी देश की कोई बात न मानी। अंत में १९२३ में लासेन स्थान पर ही दूसरी सभा बैठी जिसमें यूनान के प्रतिनिधि की हैसियत से वेनीज़ुला उपस्थित थे। इसके अनुसार थ्रेस, एड्रियानोपल तथा कुस्तुन्तुनिया पर तुर्की का अधिकार मान लिया गया।

इस संधि के पहले ही यूनान में क्रांति हो चुकी थी। स्मर्ना पर तुर्कों का झण्डा गड़ते ही यूनानी मंत्रि-मण्डल ने इस्तीफ़ा दे

दिया और सेना को भंग कर दिया। इन सैनिकों ने सितम्बर में विद्रोह कर दिया और राजा कांस्टेंटाइन को देश छोड़कर भागना पड़ा। उसके मंत्रियों और सलाहकारों पर मुकद्मा चला और ६ को उसी समय गोलियों से उड़ा दिया गया।

यूनानी सेना पर इस क्रान्ति का अच्छा प्रभाव पड़ा। भागे हुए सैनिक डर के मारे अपनी २ सेना में आ मिले और इस प्रकार सेना फिर तैयार हो गयी। वेनीज़ुला भी बुलाये गये परन्तु उन्होंने देश में आने से इनकार कर दिया क्योंकि वे ऐसी शपथ खा चुके थे। बहुत आग्रह करने पर उन्होंने बाहर रहकर ही यूनान की सहायता करना स्वीकार किया तथा लासेन कान्फ्रेंस में सम्मिलित हुए।

इसी समय एक दूसरी आफ़त उपस्थित हुई। यूनान अल्बानिया सीमा की जाँच करने वाले कमीशन का एक इटैलियन सदस्य समस्त साथियों सहित यूनानी भूमि पर मारा गया। यूनान के पुराने शत्रु इटली ने अवसर पाकर यूनान को युद्ध के लिये आव्हान किया। यूनान के नम्र उत्तर देने पर भी इटली सेना ने कार्फू द्वीप पर अधिकार कर लिया। इसी समय जेनेवा में राष्ट्र-संघ की बैठक हो रही थी। अतः यूनान ने उसी से सहायता की प्रार्थना की। इटली ने कहा कि यह मामला हम दोनों का आपस का है, राष्ट्र-संघ को इसमें हस्तक्षेप करने का कोई अधिकार नहीं है। परन्तु सब राष्ट्रों के जोर देने पर २७ सितम्बर को इटली ने कार्फू द्वीप खाली कर दिया, जिसके बदले में यूनान ने उसे पाँच लाख पौण्ड दिये।

इस समय यूनान में एक सैनिक संघ का शासन था। अतः

लोगों ने चाहा कि और सब दलों के लोग भी मिलकर काम करें। राजतंत्रवादियों ने इसके विरुद्ध अपने राजा को फिर गद्दी पर बिठाना चाहा। उनके प्रयत्न और षड्यंत्र कुछ काल तक सफल भी हुए किन्तु इन षड्यंत्रों से वहाँ के लोग अप्रसन्न हो गये। सेना का भी वहाँ सदा ज़ोर रहा है जिसके सेनापति पंगलाज कट्टर प्रजातंत्रवादी थे। अतः १९२४ में कान्स्टेन्टाइन के पुत्र जार्ज भी लोगों की सलाह से राजगद्दी छोड़कर सकुटुम्ब अपने ससुर रुमानिया के राजा के यहाँ चले गये। पेरिस जाकर लोग वेनीज़ला को भी लिवा लाये और उन्होंने घोषित किया कि हम गृह-कलह रोकने के लिये अस्थायी रूप से यहाँ आये हुए हैं। कुछ गड़बड़ के बाद वेनीज़ुला ही यूनान के प्रधान सचिव नियत हुए।

किन्तु यूनान में फिर भी शान्ति स्थापित न हो सकी। इसका कारण वहाँ भी भारत के समान दो भिन्न २ धर्मवालों का निवास था। १९२२ में दोनों जातियों—यूनानियों और तुर्कों में इतना वैमनस्य बढ़ गया कि एशिया माइनर के यूनानियों ने तुर्कों की अधीनता में रहना तथा तुर्कों ने यूनानियों के प्रति धार्मिक सहिष्णुता दिखाना अस्वीकार कर दिया। एशिया माइनर के यूनानी वहाँ से भागने लगे तथा बहुत से बलपूर्वक भगा दिये गये। अतः लासेन में इस प्रश्न का भी निपटारा किया गया। यह निश्चय हुआ कि मेसेडोनिया और एशिया माइनर की आबादी में बदलौअल कर ली जाय अर्थात् जितने यूनानी एशिया माइनर में हैं वे वहाँ से मेसेडोनिया में चले जाँय और मेसेडोनिया के तुर्की लोग एशिया माइनर में आ जाँय।

राष्ट्रसंघ के सदस्य डाक्टर नानसेन की देखरेख में यह कठिन कार्य समाप्त हुआ। एशिया माइनर से वीस लाख यूनानी मेसेडोनिया में आकर वस गये और इस प्रकार मेसेडोनिया एक यूनानी प्रान्त बन गया। दूसरी ओर एशिया माइनर तथा स्मर्ना में प्रायः सब तुर्क हो गये और वे तुर्की प्रान्त बन गये।

यह एक विचित्र अनुभव तथा प्रयोग था। इस में धन धान्य आदि को बहुत क्षति हुई किन्तु दोनों की भिन्न राष्ट्रीयता होने के कारण तथा दोनों में कट्टर शत्रुता होने के कारण यही उपाय सब से सरल दिखाई दिया।

कुछ दिनों बाद यूनान में फिर क्रान्ति हुई। जनरल पंग-लाज का प्रभाव बढ़ता गया और अन्त में जनवरी १९२६ में उन्होंने अपने को यूनान का सर्वेसर्वा घोषित कर दिया। इटली के शासक मुसोलिनी की नीति का यह दूसरा उदाहरण था। किन्तु अगस्त में फिर क्रान्ति हुई और जनरल पंगलाज पर निरंकुश शासन करने का दोष लगाकर उन्हें पकड़ कर क़ैद कर लिया गया। जनरल कॉन्डिली प्रधान हुए किन्तु जनता के अविश्वास के कारण एक मास बाद ही वे भी अलग हो गये।

मोरक्को--* आफ्रिका के उत्तर में ट्यूनिस, अल्जीर्स, मोरक्को आदि प्रदेश हैं जिनपर यूरोपीय देश बहुत दिनों से दाँत गड़ाये थे तथा बहुत से स्थानों पर उन्होंने अपना अधिकार भी कर लिया था। मोरक्को का प्रश्न भी ऐसा था। उसपर फ्रांस, स्पेन, जर्मनी

* यूनान तथा मोरक्को के वर्णन में अभ्युदय में प्रकाशित वासुदेवजी के लेखों से भी सहायता ली गयी है।

आदि प्रत्येक देश अपना अधिकार करना चाहता था। इसी झगड़े ने जर्मनी के भय से फ्रांस, इंगलैण्ड और रूस में गाढ़ी मित्रता करा दी। मोरक्को सम्बन्धी झगड़ों के ही कारण महायुद्ध के समय इटली आस्ट्रिया के गुट से निकल कर फ्रांस का मित्र हो गया।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में ही फ्रांस ने मोरक्को में अपना अधिकार कर लिया था। किन्तु शीघ्र ही दूसरे देश भी वहाँ आ गये। उनमें १९०९ में सन्धि हुई किंतु उसकी शर्तें स्पष्ट न थीं। अतः प्रत्येक देश वहाँ अपना अधिकार बताता रहा। १९११ के अप्रैल मास में ही फ्रान्स ने अपनी सेनाएँ वहाँ भेज दी थीं और मई में वहाँ की राजधानी फ़ेज़ पर अपना अधिकार कर लिया किन्तु जर्मनी के बीच में पड़ने से फ्रान्स को फिर हटना पड़ा।

महायुद्ध के समय मोरक्को में शान्ति रही किन्तु उसके बाद फिर झगड़ा आरम्भ हो गया। स्पेन उत्तर आफ्रीका के तंजीर प्रान्त पर अधिकार करना चाहता था। १९१९ में उसने फ्रांस से यह इच्छा प्रकट की किन्तु फ्रांस ने साफ़ इनकार कर दिया, जिससे दोनों में वैमनस्य हो गया। आन्तरिक दशा खराब होने के कारण स्पेन में असन्तोष था। स्पेन के मोरक्को के झगड़े में पड़ने के कारण दशा और भी बिगड़ गयी और चारों ओर से क्रान्ति की पुकार होने लगी। अन्त में १९२३ में क्रान्ति हो गयी। राजा का सब अधिकार छिन गया और स्पेन में सैनिक शासन स्थापन हुआ जिसके नेता जनरल डि रिवेरा थे। यह मुसोलिनी तथा यूनान के पंगलाज की नीति का तीसरा उदाहरण था।

मोरक्को में विदेशियों का हस्तक्षेप तथा वहाँ के सुलतान की निर्बलता देख कर तुर्की के समान मोरक्को में भी वीर रीफ़ जाति

का एक राष्ट्रीय दल बन गया था। इस दल के नेता अब्दुल करीम थे तथा इसका उद्देश विदेशियों से अपने देश की रक्षा करना था। स्पेन ने जब मोरक्को पर आक्रमण किया तो वीर रीफ़ों ने शीघ्र ही उन्हें हराकर भगा दिया। स्पेन ने कई बार मोरक्को पर आक्रमण किये किन्तु उन्हें सफलता न मिली, बल्कि स्पेन स्वयं ही मिट्टी में मिला दिया गया और अब्दुल करीम से सन्धि की प्रार्थना करने लगा। स्पेन ने १,१०,००० सेना लेकर आक्रमण किया था किन्तु केवल १०,००० रीफ़ों ने ही उन्हें १९२४ में हरा कर पीछे भगा दिया और संधि के लिये बाध्य कर दिया।

फ्रांस अपने श्वेतांग भाइयों की ऐसी पराजय तथा अपकीर्ति न देख सका, क्योंकि इससे काली जातियों में गोरी जातियों का रोब उठ जाने का भय था। अतः वह भी स्पेन का पक्ष लेकर युद्ध-क्षेत्र में कूद पड़ा और अपनी आर्थिक दशा खराब होने पर भी मोरक्को के लिये एक बड़ी सेना तैयार कर दी जिसमें १४४ पल्टनें थीं तथा बम्ब आदि भी थे। अब दोनों ने मिलकर रीफ़ों को घेर लिया। फिर भी बहुत दिनोंतक युद्ध हुआ, फ्रांस और स्पेन दोनों की नाक में दम आ गया। उनके धन-जन की अपार क्षति हुई और उनको हार होती मालूम हुई किंतु इन्होंने अनेक युक्तियों से मोरक्को की कुछ जातियों को भी अब्दुल क़रीम के विरुद्ध कर दिया और इस तरह धीरे २ उसकी हार होने लगी।

अन्त में धन, बम्ब, विषैली गैस, हवाई जहाज आदि से युक्त यूरोपीय जातियों ने, अमेरिका की सहानुभूति तथा सहायता से रीफ़ों पर विजय प्राप्त की। जून १९२६ में अब्दुल करीम की रही सही सेना ने आत्मसमर्पण कर दिया। फिर भी

उन्होंने दिखा दिया कि राष्ट्रीयता के भावों से प्रेरित मुट्ठी भर वीर भी दो दो प्रबल यूरोपीय जातियों का इतने दिनों तक किस वीरता से सामना कर सकते हैं।

अब्दुल करीम रियूनियन द्वीप में भेज दिये गये और फेज़ के सुलतान ने फ्रांस की अधीनता स्वीकार कर ली (अगस्त १९२६)। इसके बाद उन्होंने पेरिस की यात्रा भी की जहाँ उनका खूब स्वागत हुआ।

अब मोरक्को में फ्रांस का आधिपत्य है परन्तु रीफ़ जाति अब भी सन्तुष्ट और शान्त नहीं है। हाल ही में फिर समाचार आया था कि वहां फिर विद्रोह आरंभ हो रहा है।

अन्य उपनिवेश—महायुद्ध के बाद से इंगलैण्ड उपनिवेशों से घनिष्ठता बढ़ाने का प्रयत्न कर रहा है। युद्ध के बाद ही साम्राज्य-संघ की स्थापना हुई और प्रति वर्ष लन्दन में उसका अधिवेशन होता है। हाल ही में अक्तूबर १९२६ की कांफ्रेंस में बर्दवान के महाराज भारत के प्रतिनिधि के रूप में गये थे। इसी समय राष्ट्रसंघ का भी एक अधिवेशन जेनेवा में हुआ जिसमें कपूर्थला के महाराज तथा पंजाब के अब्दुल कादिर भारत सरकार की ओर से निर्वाचित होकर गये थे। साम्राज्य कान्फ्रेंस में अन्य उपनिवेशों कनाड़ा, आस्ट्रेलिया आदि ने अपने अधिकार और अधिक बढ़ा लिये अर्थात् विदेशों से स्वतंत्र रूप से संधियाँ करने का अधिकार पा लिया, जो अब तक उन्हें न था किन्तु भारत जहाँ का तहाँ रह गया!

अफ्रीका में भारतीयों का अभी तक सन्तोषजनक निर्णय नहीं हुआ है। यद्यपि श्रीनिवास शास्त्री के भारतीय दूत नियुक्त

होने से भारत में सन्तोष हुआ है किंतु अफ्रीका की भारत प्रवासियों की दशा अब तक नहीं सुधरी है।

महायुद्ध के बाद से अब तक का यूरोपीय देशों का यही संक्षिप्त इतिहास है। १९२७ में अब तक यूरोप में कोई महत्व-पूर्ण घटना नहीं हुई है। छोटी २ घटनाएँ प्रत्येक देश में सदा हुआ ही करती हैं। बालकन में जेको-स्लोवेकिया, रोमानिया आदि का सम्बंध फिर तना हुआ प्रकट होता है। इसी भाँति रूस और पोलैण्ड में भी वैमनस्य है। अभी हाल ही में (जून १९२७) मास्को में एक रूसी अफ़सर वायकोव की हत्या हो गयी जिसके कारण रूस ने अपराधी दल के ६ मनुष्यों को फांसी पर चढ़वा दिया। इसके अतिरिक्त यूरोप में इस समय प्राय: सर्वत्र शान्ति है। और निकट भविष्य में किसी बड़े युद्ध की सम्भावना भी दूर हो गयी है। हाँ, चीन में अवश्य बहुत दिनों से झगड़ा चल रहा है जिससे यूरोप का भी सम्बंध है किंतु अभी तक उसका भी कोई निर्णय नहीं हुआ है।

अस्तु, हमने यूनान की सभ्यता के आरंभ से लगाकर आज तक का इतिहास लिखने का प्रयत्न किया, लगभग चार सहस्त्र वर्षों का वृतान्त लिखा, किन्तु विश्व की निःसीम अवधि में यह केवल एक क्षण भर का वृत्तान्त है। यूनानी सभ्यता के आरम्भ होने से भी पहले न जाने कितना समय व्यतीत हो चुका था, तथा अब भी हमारे आगे अनन्त भविष्य पड़ा हुआ है। हम इस संसार में एक क्षण भर के लिये आते हैं। फिर भी हम जो कुछ ज्ञानोपार्जन कर सकें—संसार के रहस्यों का जो कुछ भी

हाल जान सकें वही अच्छा है। यही सोचकर यह यूरोप का इतिहास लिखने का श्रम किया गया।

बीसवां अध्याय

स्थायी शान्ति के प्रयत्न—राष्ट्रसंघ

रोम साम्राज्य के पतन के पश्चात् यूरोप की सार्वभौम शांति भी दूर हो गयी और तब से निरंतर वह सर्वत्र स्थायी रूप से शांति रखने का प्रयत्न करता रहा है। राजाओं के अधीन भिन्न २ स्वतंत्र राज्य स्थापित होते ही उनमें झगड़े आरंभ हो गये जिससे सभी देशों को हानि पहुँचने लगी। यूरोप में इन झगड़ों का निपटारा करने के लिये कोई सर्व प्रधान अदालत नहीं थी और उनका निर्णय प्रायः युद्ध से ही होता था। किन्तु राष्ट्रीय राज्य स्थापित होने के बाद उन्हें अंतर्राष्ट्रीय संबंध की सूझी। एक दूसरे देश से व्यापार होने लगा, संधियां होने लगी तथा अंतर्राष्ट्रीय युद्ध भी होने लगे। युद्धों के बाद लोगों का ध्यान अंतर्राष्ट्रीय-विधान की ओर भी गया। इसके दो ही मार्ग थे। प्रथम तो समस्त भूमण्डल को किसी एक महाबली शासक के अधीन कर दें जो सर्वत्र एक ही कानून चलाए तथा सर्वत्र शांति स्थापित रख सके। परंतु यह असम्भव था। अतः लोगों ने दूसरी युक्ति सोची अर्थात् पृथ्वी के भिन्न २ भागों के शासक मिलकर कुछ नियम स्थिर कर लें जिन्हें सब मानें। इन्हीं विचारों का धीरे २ विकास होता रहा है।

नवीन काल में सबसे पहले फ्रांस के शासक हेनरी-चतुर्थ (१५९४—१६१०) ने इस ओर ध्यान दिया। उसने एक योजना

तैयार की जिसका नाम 'ग्राण्ड डिज़ाइन' रखा गया। इसके अनुसार उसने पश्चिमी यूरोप के देशों में शांति स्थापित रखने के लिये सब देशों के प्रतिनिधियों की एक सम्मिलित सभा स्थापित की किन्तु उसकी असमय मृत्यु से यह कार्य अधूरा रह गया।

१७१३ में सेंट पियर नाम के एक विद्वान् ने ऐसी ही एक योजना तैयार की किन्तु फ्रेडरिक महान की महत्त्वाकांक्षा तथा फ्रांस और इङ्गलैण्ड में व्यापार बढ़ाने तथा उपनिवेशों पर अधिकार करने के लिये प्रतिद्वन्दिता होने के कारण यह योजना भी कार्यान्वित न हो सकी।

फ्रांस की राज्यक्रान्ति के पश्चात् स्थापित पवित्र-मैत्री तथा उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त में स्थापित हेग की अन्तर्राष्ट्रीय कांफ्रेंस का भी यही उद्देश था। किन्तु ये भी सफल न हो सके।

महायुद्ध के पश्चात् अमेरिका के प्रेसीडेन्ट विल्सन ने भविष्य में यूरोप में शांति रखने के उद्देश से ऐसी ही एक योजना वर्सेल कान्फ्रेंस में उपस्थित की तथा उस पर बहुत जोर दिया। अमेरिका की शक्ति तथा उसके प्रभाव के कारण उसकी यह योजना सबको स्वीकार करनी पड़ी और वर्सेल सन्धि की शर्तों में इसे भी स्थान मिल गया।

१९१९ में राष्ट्रसंघ की योजना तैयार हो गयी। उसका केन्द्र जेनेवा स्थान नियत हुआ तथा उसकी मेम्बरी संसार के सब देशों के लिये खोल दी गयी।

इसका प्रधान विभाग 'ऐसेम्बली' कहलाता है। इसकी बैठक प्रतिवर्ष हुआ करती है तथा उसमें सब मेम्बरों की राय समान समझी जाती है।

कार्यकारिणी की शक्ति एक सभा के अधीन है जो काउंसिल कहलाती है। इसमें पहिले प्रधान चार राष्ट्र सम्मिलित किये जाते थे—ग्रेटब्रिटेन, इटली, फ्रांस और जापान। किन्तु सितंवर १९२६ से जर्मनी भी इसमें सम्मिलित कर लिया गया है। इसके अतिरिक्त नौ अस्थायी मेम्बर भी रहते हैं जो वदलते रहते हैं। यह आश्चर्य की वात है कि अमेरिका द्वारा प्रस्तावित होने पर भी अमेरिका संघ का मेम्बर नहीं है।

इसका कार्य अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निवटारा करना तथा देशों में मित्रता वनाए रखना, सामाजिक कुरीतियों को दूर करना तथा श्रमजीवियों की दशा सुधारना आदि है।

यदि संसार के किसी भाग में युद्ध अथवा ऐसी कोई घटना हो जिससे शान्ति भंग होने की सम्भावना हो तो राष्ट्र-संघ उसमें हस्तक्षेप करता है। यदि संघ के मेम्बर अपने झगड़े संघ द्वारा तय कराना चाहें तो उन्हें युद्ध वन्द करके संघ के निर्णय की प्रतीक्षा करनी पड़ती है। संघ की कौंसिल झगड़े की पूर्णतया जाँच करती है और उसकी रिपोर्ट अपनी सिफारिशों सहित प्रकाशित करती है। यदि लड़ने वाले देश इस निर्णय को न मानें और युद्ध करने लगें तो समझा जाता है कि उन देशों ने संघ के सव देशों के साथ युद्ध-घोषणा कर दी है। अतः सव देश उन दोनों देशों से अपना व्यापार वन्द कर देते हैं तथा और सम्वन्ध भी तोड़ देते हैं।

राजनैतिक झगड़ों में संघ को वड़ी कठिनाइयाँ पड़ी हैं। जर्मनी के संघ में सम्मिलित होने से समस्त यूरोपीय देशों में द्वेष फैल गया तथा स्पेन और ब्राज़िल मेम्बर न वनाये जाने के

कारण संघ से क्रुद्ध होकर लौट गये। अमेरिका भी संघ से अलग हो गया है। रूस को संघ तथा उसके कार्य की व्यावहारिकता में विश्वास ही नहीं है। अतः वह कभी संघ में सम्मिलित न हुआ।

संघ को प्रबल राष्ट्रों के मामलों में हस्तक्षेप करने में और भी अधिक कठिनाई पड़ी और वहाँ उसकी निर्बलता प्रमाणित हो गई। उदाहरणार्थ इटली—यूनान कलह में, इटली ने राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप को अस्वीकार कर दिया और कार्फू द्वीप पर अधिकार कर लिया। इसी भाँति इङ्गलैण्ड-मिश्र तथा फ्रांस—मोरक्को के झगड़ों में राष्ट्र-संघ कुछ न कर सका। हाँ, निर्बल राष्ट्रों के झगड़ों में अवश्य उसने हस्तक्षेप किया है। यथा १९२५ में उसने यूनान और बलगेरिया का झगड़ा तय करा दिया। इसके अतिरिक्त डेनज़िग नगर का शासन-प्रबंध भी उसने सफलतापूर्वक किया है। इस नगर के ऊपर वर्सेल सन्धि में बड़ा झगड़ा हुआ। डेनजिग पोलैण्ड के उत्तर में है। पोलैण्ड को विश्चुला नदी से बहुत सहायता मिलती तथा विश्चुला नदी का मुख्य बन्दर डेनज़िग ही है। अतः डेनज़िग पोलैण्ड के लिये बहुत महत्त्वपूर्ण है। परंतु वहाँ की बस्ती प्रायः प्रशियन है। यदि डेनजिग पोलैण्ड को दे दिया जाता तो राष्ट्रीयता के अनुसार देश-विभाग के सिद्धान्त में बाधा पड़ती। यदि डेनज़िग प्रशा को दे दिया जाता तो पोलैण्ड बहुत निर्बल हो जाता; दूसरी शक्तियाँ प्रशा को कुछ देना भी न चाहती थीं, जो कुछ हो सके उससे छीनना चाहती थीं। इस भाँति डेनज़िग राष्ट्रसंघ की देखरेख में अन्तर्राष्ट्रीय अधिकार में कर दिया गया।

राष्ट्रसंघ की पहली बैठक १९२० के नवम्बर और दिसम्बर

महीनों में हुई तथा इसमें यह निर्णय हुआ कि भविष्य में यह बैठक प्रतिवर्ष जेनेवा में ही सितम्बर मास के पहिले सोमवार से आरम्भ हुआ करे। तब से प्रतिवर्ष इसके अधिवेशन होते हैं। भारत से भी इसमें प्रतिनिधि जाते हैं किन्तु उन्हें नियुक्त करना सरकार के हाथ में है, जनता द्वारा वे चुने नहीं जाते!

१९२४ में राष्ट्रसंघ में प्रस्ताव हुआ कि भविष्य में शांति स्थापित रखने के लिये राष्ट्रसंघ को यह अधिकार हो कि यदि कोई राष्ट्र दूसरे राष्ट्र पर साम्राज्य-विस्तार की लालसा से आक्रमण करे तो राष्ट्रसंघ शस्त्र लेकर उस देश को रोके। इस प्रस्ताव से छोटे २ तथा निर्बल देशों में बड़ा उत्साह तथा हर्ष फैला। इंगलैण्ड ने भी इस प्रस्ताव का पूर्ण समर्थन किया क्योंकि उस समय इंगलैण्ड में मजदूर दल की विजय हो गयी थी और उन्हीं का मंत्रिमण्डल बना था जिसके प्रधान श्री रामज़े मेकड़ानेल्ड थे। किन्तु आठ मास पीछे ही मजदूर दल फिर हार गया और इंगलैण्ड में फिर अनुदार दल का शासन हुआ जिसके प्रधान श्री बाल्डविन हैं। इस प्रकार इस अनुदार दल तथा फ्रांस ने मिलकर राष्ट्रसंघ के प्रस्ताव को रद्दी कर दिया।

इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि बलवान राष्ट्रों के विरुद्ध राष्ट्रसंघ कुछ नहीं कर सकता। वे सब अपने २ स्वार्थ में मग्न हैं और राष्ट्रसंघ से उसी समय सहायता लेना चाहते हैं जब उन्हें कोई हानि न पहुँचती हो।

राजनैतिक कार्यों के अतिरिक्त समाज-सुधार, रोग-निवारण आदि के भी प्रयत्न राष्ट्रसंघ द्वारा हुआ करते हैं। गत वर्ष की बैठक में अफ़ीम की कमी करने, श्रमजीवियों की दशा सुधारने

तथा रोगों में कमी करने आदि पर विचार किया गया था और इनके सम्बन्ध में प्रस्ताव भी पास हुए।

अस्तु, अब तक यूरोप में कोई ऐसा महत्वपूर्ण युद्ध नहीं हुआ है जिसमें हस्तक्षेप करके राष्ट्रसंघ को उसे बन्द कराने का अवसर मिलता। यदि ऐसा युद्ध होता तो सम्भव है कि बलवान राष्ट्र राष्ट्रसंघ के निर्णय को स्वीकार न करते। फिर भी इस समय यूरोप में शीघ्र अशान्ति होने की सम्भावना नहीं है। इसका कारण यूरोप की दरिद्रता है न कि राष्ट्रसंघ का अस्तित्व।

इस समय संसार का ध्यान आकर्षण करने वाले केन्द्र जर्मनी, इटली, रूस आदि हैं जिन्हें अपनी बढ़ती हुई जन-संख्या को स्थान देने के लिये अधिक विस्तार की आवश्यकता है। संभव है कि भविष्य में वे विस्तार बढ़ाने के लिये फिर बल-प्रयोग का ही अवलम्बन करें।

इस प्रकार शान्ति स्थापित रखने के लिये इतने प्रयत्न किये जाने पर भी संसार के किसी न किसी भाग में सदा युद्ध होता रहता है। यही देख कर फालोडन के लार्ड ग्रे ने निराशा भरे शब्दों में कहा था—"यदि हम युद्ध के विरुद्ध संगठित नहीं हो सकते, यदि युद्ध रुकने वाला नहीं है, तो राष्ट्रों को अपनी रक्षा करने का केवल एक ही उपाय है—कि वे जितने भी संघातक साधनों का आविष्कार कर सकते हैं उन सब का प्रयोग करें, जब तक कि ये साधन तथा वैज्ञानिक आविष्कार समस्त मनुष्य जाति को—जिसकी सेवा करने के लिये उनका जन्म हुआ था—निःशेष करके स्वयं भी निःशेष न हो जायँ।"